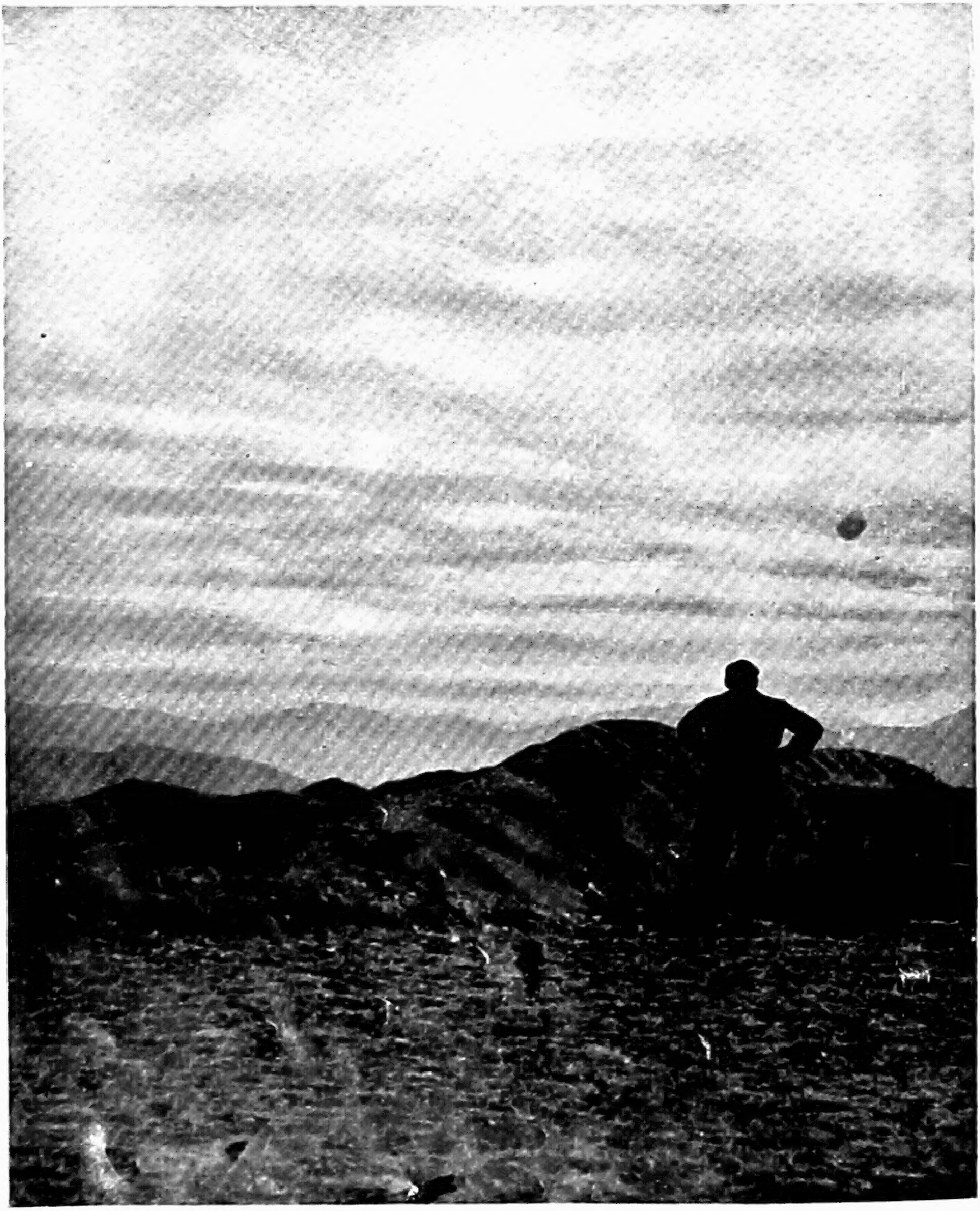


अरे यायावर, रहेगा याद ?

Sachidanand

(Vatsyayan)

(PP 228.)

(Travels)

अरे यायावर रहेगा याद ?

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन

सरस्वती प्रेस बनारस

● रेखाचित्र, स्केच और अलंकृतियाँ
लेखक द्वारा अंकित

● फ़ोटोचित्र
लेखक, सी० आर० स्टोनर, सेठ'स, पुरातत्त्व विभाग और भारतीय वायविक सर्वे द्वारा प्रस्तुत

● भार्गव भूषण प्रेस, काशी में
पृथ्वीनाथ भार्गव द्वारा मुद्रित

● सरस्वती प्रेस, बनारस से
श्रीपतराय द्वारा प्रकाशित

● मूल्य छः रुपये

पार्श्व गिरि का नम्र, चीड़ों में
डगर चढ़ती उमंगों-सी ।
बिछी पैरों में नदी, ज्यों दर्द की रेखा ।
विहग-शिशु मौन नीड़ों में ।
मैंने आँख भर देखा ।
दिया मन को दिलासा – पुनः आऊँगा
भले ही बरस-दिन – अनगिन युगों के बाद !
क्षितिज ने पलक-सी खोली
तमक कर दामिनी बोली :
'अरे यायावर, रहेगा याद !'

———

सनीचर को: सनीचर को: सनीचर को:

इस प्रकार कदाचित् इस प्रकार कदाचित् इस प्रकार कदाचित्

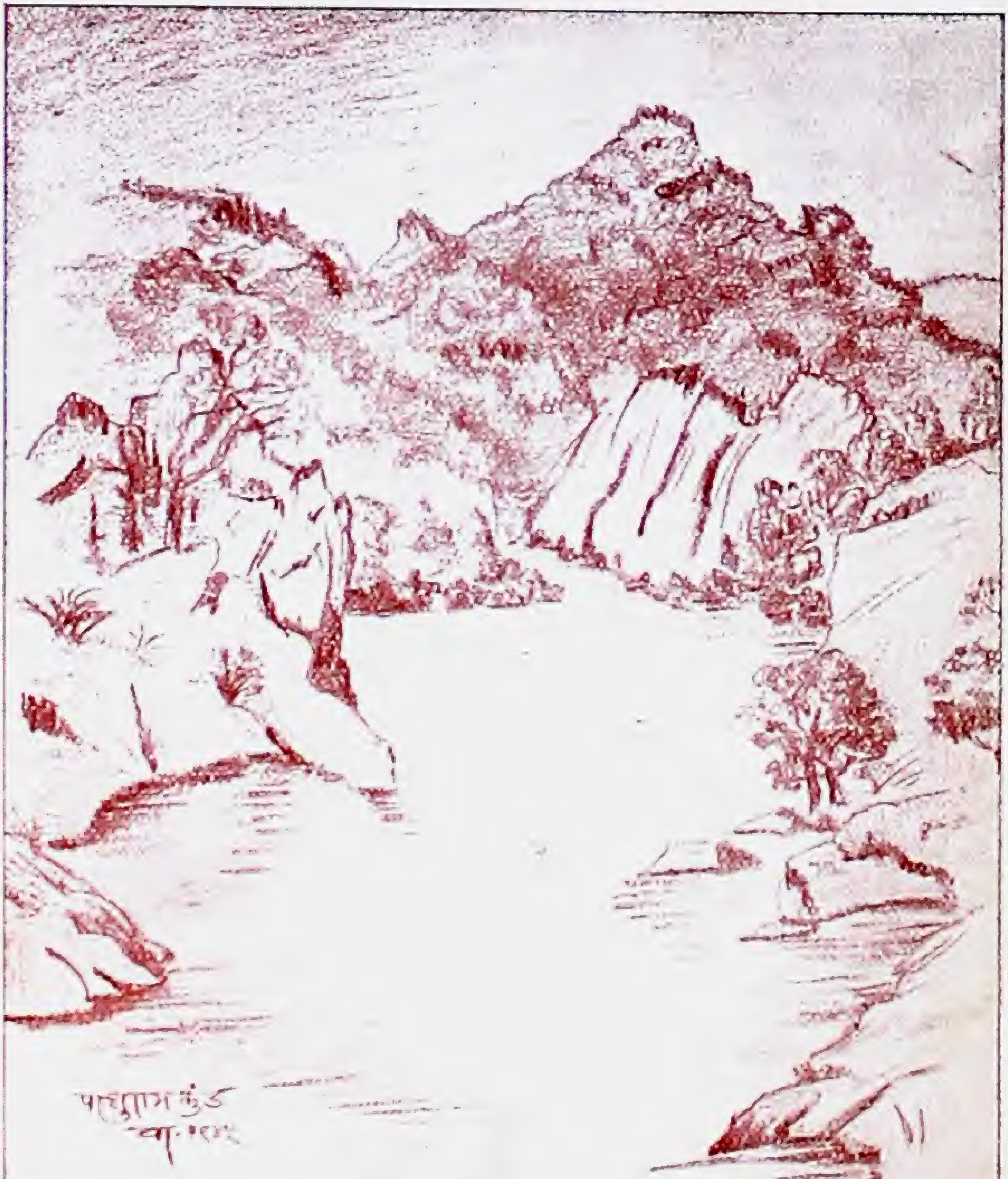
कलाकार कलाकार कलाकार

[illegible]

सूची

चित्र-सूची

फलक सूची



परशुराम कुंड।

[पृष्ठ १ के सम्मुख

परशुराम से तूरख़म

एक टायर की राम-कहानी

कहते हैं कि सृष्टि की सर्वोत्तम आकृति चक्र है—क्योंकि उस का आदि-अन्त कुछ नहीं है। मैंने देश की भिन्न-भिन्न सँकरी-चौड़ी, कच्ची-पक्की, ऊबड़-खाबड़ सड़कों पर लुढ़कते-पुढ़कते अनेकों बार सोचा है कि चक्राकृति में सौन्दर्य के लिए बहुत अधिक नम्बर चाहे न भी पाऊँ, अपनी आदि-अन्तहीन गति-क्षमता का दावा तो कर ही सकता हूँ—और यह भी कह सकता हूँ कि स्वयं सुन्दर न हो कर भी मैं संसार के अखिल सौन्दर्य की नींव हूँ, क्योंकि मैं संस्कृति की नींव हूँ। संस्कृति और सभ्यता के विकास में अग्नि के अवतरण के बाद जो दूसरी सीढ़ी मानव प्राणी चढ़ा, वह मैं हूँ; या यों कह लीजिये कि देवताओं के समुद्र-मन्थन से जैसे सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि अग्नि की हुई, उसी प्रकार मानव-मन-रूपी महासागर के मन्थन से जो श्रेष्ठ नवनीत प्राप्त हुआ, वह है चक्राकार की उद्‌भावना...

यह मैं कह रहा हूँ, तो चक्र मात्र के साधारण प्रतिनिधि की हैसियत से; नहीं तो व्यक्ति रूप में मैं एक अकिंचन यायावर हूँ, और अपने ही जैसे यायावर 'श्री इन पंक्तियों के लेखक जी' का सहारा—क्योंकि मैं उनकी गाड़ी का एक टायर हूँ...

और मैं जो राम-कहानी कहूँगा, वह भी मेरी राम-कहानी इसी लिए है कि वह मेरे चालक की कहानी है। अपने अनुभव को दूसरे के—अपने मालिक के—इतिवृत्त के रूप में कहना ही तो मर्यादा-संगत है; वैष्णव-भक्त राधा और कृष्ण के जीवन में अपने राग-विराग ढाल देते थे, मैं अपने प्रतीक-पुरुष को ही आधार बनाता हूँ। तुलना आपको बड़बोलापन लगे तो यह न भूलिये कि जैसा मुरीद होगा, वैसा ही पीर होगा. उस से बड़ा कहाँ से आयेगा!

*　　*　　*　　*

मिस्टर पीटर रोलिंग स्टोन
हैव यू एनी मॉस ?
नो सर, नो सर, आइ'म
रनिंग एट ए लॉस !

अपने प्रतीक-पुरुष को मिस्टर रोलिंग स्टोन नहीं कहूँगा, यायावर कहूँगा; पर बात वही है—

चल-चल देता है लाद-लादकर बार-बार बनजारा ;
सब ठाठ धरा रह जाता; धन बस दूर क्षितिज का तारा !

यायावर को भटकते चालीस बरस हो चले, किन्तु इस बीच न तो वह 'अपने पैरों तले घास (या मॉस !) जमने दे सका है', न कुछ ठाठ जमा सका है, न क्षितिज को कुछ निकट ला सका है—उसके तारे को छूने की तो बात ही क्या! कितने स्थल उसने देखे जहाँ बैठ कर ऋषियों ने देहों पर वल्मीक उगा लिये, जहाँ मुनि तपस्या करते-करते पाषाण हो गये, जहाँ देवता जम कर पर्वत-शृंग बन गये, जहाँ मानवों ने ऐहिक कांक्षाओं-वासनाओं से मुक्ति पायी—किन्तु यायावर ने समझा है कि देवता भी जहाँ मन्दिर में रुके कि शिला हो गये, और प्राण-संचार के लिए पहली शर्त है गति, गति, गति! छुटपन में चीनी कहावतों के एक संग्रह में जिस वाक्य ने उसे सब से अधिक प्रभावित किया था और जिसे उसने अपना गुरुमन्त्र मानकर डायरी के मुख-पृष्ठ पर लिख लिया था, वह था।

'मैं क्यों चाहूँ कि मेरी अस्थियाँ भी मेरे पुरखों की अस्थियों के साथ एक सुरक्षित समाधि-स्तूप में दबी रहें? जहाँ भी कोई चला जाय, वहीं कोई हरी-भरी पहाड़ी मिल जायगी'...

* * * *

पूर्व—असम[1]

यायावर को असम में जब नौकरी ही भटकने की मिली, तब उसे लगा मानों क्षितिज का तारा कुछ निकट आ गया है। किंतु जब जापानी

---

१ 'आसाम' नहीं, असम; 'आसामी' नहीं, असमीया। —ले०

अभियान बढ़ा और पछाड़ खाकर गिर गया, और काम का दबाव भी कुछ हल्का पड़ा, तब उसने समझ लिया कि जल्दी ही इस सीमान्त से स्थानान्तरित होना होगा। इसी लिए जब पूर्वी सीमा-प्रान्त के भी पूर्वोत्तर प्रदेश का दौरा उस के हिस्से पड़ा, तब उस ने तत्परता से स्वीकार किया, और दौरे के प्रोग्राम में कई ऐसे भी स्थान जोड़ लिये जो प्रायः दौरा करने वाले अफसरों की सूची में छूट जाया करते हैं—चाहे इस लिए कि 'वहाँ भला क्या काम होगा?' और चाहे इस लिए कि 'कौन आफत का मारा वहाँ जायगा?' मन ही मन यह भी ठान लिया कि दौरे पर ही 'अपने कार्यक्रम को तात्कालिक आवश्यकतानुसार बदल सकने' के अधिकार का भरपूर उपयोग किया जायगा—क्योंकि दौरे की पटरी से कुछ इधर या कुछ उधर या कुछ आगे ही तो कैसे-कैसे स्थान पड़ते हैं!

यायावर को इस बार जो ट्रक मिला, उसकी हालत बहुत अच्छी न थी। कहूँ कि उसमें एक टायर ही बस ऐसा था जिसका भरोसा किया जा सके, तो इसे मेरी आत्मश्लाघा न समझा जाय! एंजिन अठारह हजार मील रन कर चुका था—और अठारह हजार फौजी मील कितने लम्बे होते हैं, वह भुक्तभोगी मिलिटरी गाड़ियाँ ही जानती हैं!—काँच सब टूटे हुए थे, कारबुरेटर खराब था, तारें गल गयी थीं, बैटरी बदलने लायक थी, डायनेमो बीच-बीच में चार्ज करना छोड़ देता था, ब्रेक कमज़ोर थे... तिस पर यायावर को रात में गाड़ी चलाने का व्यसन है, और वह बहुधा दूर-दूर की मीटिंगें शाम को रखता जिससे घोर रात के सन्नाटे में सारी सड़क पर निर्बाध अधिकार हो, कहीं रुकना न पड़े, पटरी से उतरना न पड़े, किसी की धूल न फाँकनी पड़े, और शान्ति से सोचा जा सके; नथने फुलाकर कामरूपी रात की रहस्यमयी सुगन्ध ली जा सके, जब-तब बीच राह में चौंक कर रुके हुए किसी वन्य जन्तु की चमकती अंगार आँखें देखी जा सकें, फिर वह खरहा हो, कि लोमड़ी-सियार, कि बन-बिलार कि बघेला... और रात की दौड़ में एक यह भी सुविधा थी कि कभी-कभी रैन-बसेरे की समस्या अपने-आप हल हो जाती थी!

किन्तु इस ट्रक के साथ रात की दौड़ कैसे हो? यायावर को चिन्ता नहीं। वह गाड़ी स्वयं चलाता है, शुक्लपक्ष की रातें हैं, उसके शरीर में शायद विटामिन कैरोटीन यों भी यथेष्ट है क्योंकि बत्ती जलाये बिना गाड़ी दौड़ाने में उसकी आँखों को कोई कष्ट नहीं होता! बल्कि यह स्निग्ध अँधेरा तो विचार का सहायक है—और चाँदनी में पूरा प्रदेश दीखता है जब कि बत्ती जलाने से केवल सड़क दीप्त हो उठती है और परिपार्श्व पर कालिख पुत जाती है!

तिनसुकिया से आगे कोई वर्कशाप नहीं है तो क्या हुआ? यायावर के पैर में चक्कर है, दिमाग में चक्कर है, भ्रामरी योग में उसने जन्म लिया है और सनीचर की साढ़े साती चल रही है—क्या भटकानेवाली इतनी शक्तियाँ उसकी रुकी गाड़ी को चला न देंगी? कब उसे उत्तर-पूर्व का सीमान्त फिर छूना मिलेगा, कब फिर ब्रह्मपुत्र की समतल यात्रा का आरम्भ-बिन्दु, परशुराम का तपोवन और कुंड, कुंडिनपुर के उन महलों के अवशेष जहाँ बैठकर रुक्मिणी ने कृष्ण की प्रतीक्षा की होगी; गैंडे, हाथी और मिठून (अरना भैंसा) द्वारा सेवित कदलीवन, आबोर और मिश्मी और खामटी वन्य जातियों के आश्रयदाता सदिया सीमाप्रदेश के दुर्भेद्य जंगल देखने को मिलेंगे...और चार-पाँच दिन बाद ही तो माघ-पूर्णिमा है, जिस दिन परशुराम कुंड पर मेला लगता है...निस्सन्देह यायावर का सदिया फ्रंटियर ट्रैक्ट में जाना बहुत जरूरी है, वहाँ उसे बहुत काम है और उसके लिए दौरे के प्रोग्राम में हेर-फेर करना ही होगा!

*　　　*　　　*

सैखुआ घाट असम रेलवे की छोटी लाइन का उत्तर-पूर्वीय अन्तिम स्टेशन है। तिनसुकिया से पचास-पचपन मील रेल की पटरी के साथ-साथ सड़क जाती है। राह में डुमडुमा की अमरीकी छावनी और फिर एक बड़ा चीनी शिविर लाँघ-कर, अनेक चाय-बगान, नदी-उपनदी और बेंत के जंगल पार करके सैखुआ घाट का बँगला पड़ता है। किन्तु कोई सोच ले कि घाट पहुँचते ही नदी मिल जायगी तो भूल करेगा, यद्यपि

नाम को घाट के बाद से नदी का पाट आरम्भ हो जाता है। दो-तीन मील और आगे बढ़कर फिर सड़क खो जाती है और मीलों रेती में चलना पड़ता है, तब जाकर कहीं ब्रह्मपुत्र का उतारा मिलता है, जहाँ गाड़ी नाव पर लाद कर पार लगायी जाती है। पार उतर कर फिर दो-तीन मील रेती, और फिर सड़क पर चढ़ कर सदिया का छोर मिल जाता है, कुछ आगे बाज़ार है और बायें को मुड़ कर दो-तीन मील जाकर सदिया का दुर्ग, छावनी और कचहरी आदि...

यायावर का ट्रक सर्किट हाउस पर जा रुका। मुझे तब विश्राम मिला; यायावर ने कमरे में सामान जमाया और नक्शा लेकर बैठा। शाम को अंग्रेज़ पोलिटिकल एजेंट से मिलकर 'भीतरी सीमा' के पार के प्रदेश में जाने का परमिट लिया और बाकी तैयारी अगले दिन पर छोड़ दी, ताकि इस बीच ट्रक की और मेरी कुछ खातिर कर ली जाय...

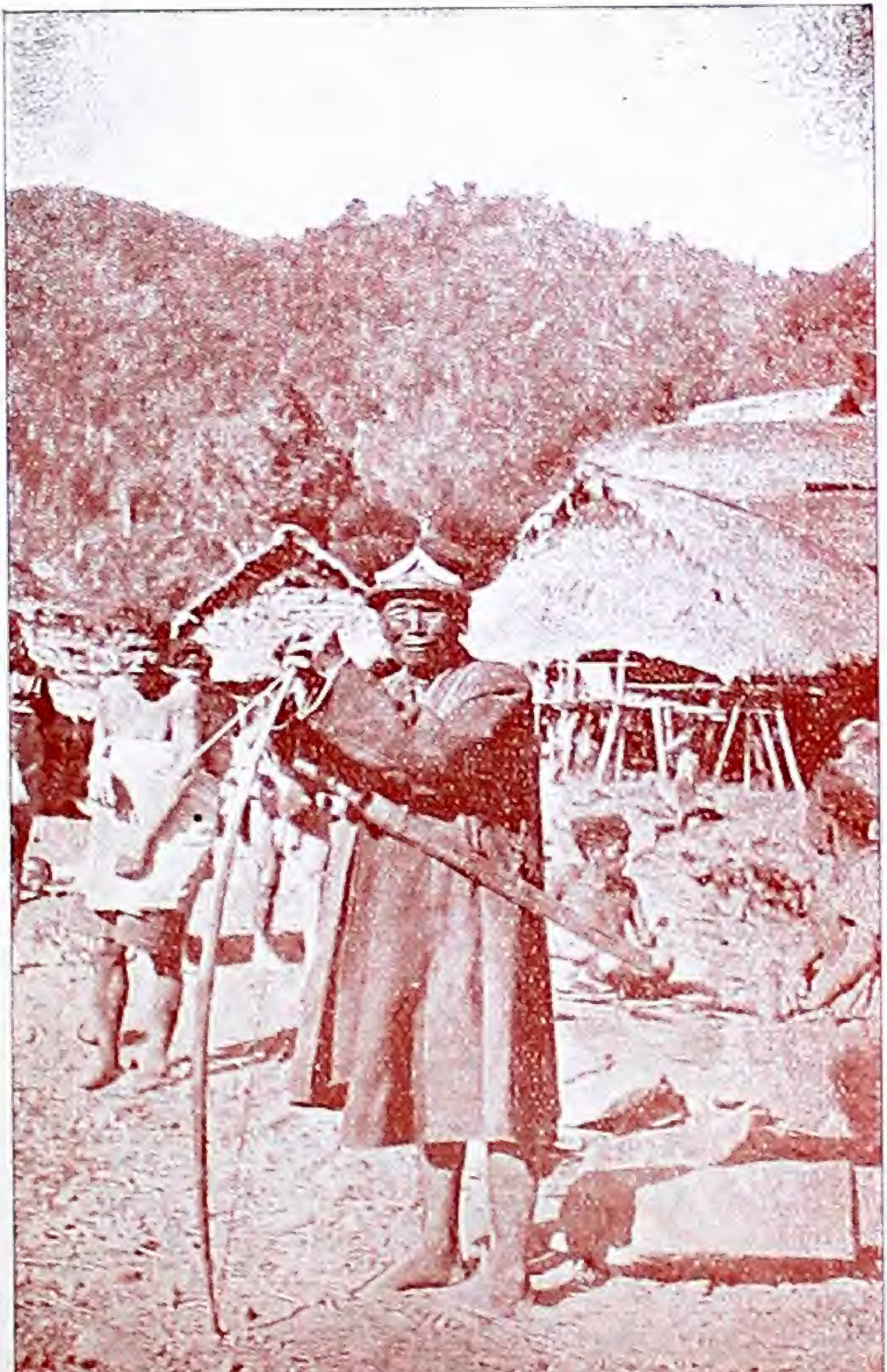
सदिया सीमा प्रदेश तो है ही, यहाँ का पोलिटिकल एजेंट सीधे गवर्नर के अधीन होता, और उस के तथा सदिया के सैनिक कमांडर के हाथ में संपूर्ण शक्ति केन्द्रित होती। भारत में ब्रितानी शासन को दृढ़ करने में किस तरह सीमा प्रान्तों या 'पिछड़े' प्रदेशों के पोलिटिकल एजेंटों और ईसाई प्रचारकों का चोली-दामन का साथ रहा है, इसके अध्ययन के लिए असम के सीमा प्रदेशों का-सा क्षेत्र और न मिलेगा! यायावर प्रायः कहा करता कि देश की पराधीनता सब से अधिक अखरती है तो एक अपने हिमालय के अंग, संसार के सब से ऊँचे शिखर का नाम 'एवरेस्ट' सुनकर, और एक सीमा-प्रदेशों में जाने के परमिट के लिए फिरंगी पोलिटिकल एजेंट के दफ्तर में जाकर! देश की प्रत्येक सीमा तीर्थ होती है, नहीं तो देश पुण्यभूमि कैसे होता है? पर अपने ही तीर्थ तक जाने के लिए परदेशीय सत्ता के अहंमन्य प्रतिनिधि का मुँह जोहना जैसा चुभता है, उसे भुक्तभोगी जानते हैं...

सदिया फ्रंटियर ट्रैक्ट में भी दो सीमाएँ हैं। एक भीतरी सीमा, एक सीमा। यों तो सदिया में घुसने वाले प्रत्येक व्यक्ति को आने का कारण,

ठहरने की अवधि आदि ब्यौरा देना पड़ता है, पर भीतरी सीमा तक जाने के लिए व्यक्ति को और अधिक कुछ नहीं करना पड़ता। किन्तु इस सीमा के पार जाने के परमिट पोलिटिकल एजेंट स्वयं देता है, और वह सदा या सब के लिए सहल नहीं होता...माघ-मेले के समय परशुराम जाने वाले यात्री जा कर उसी दिन लौटने का, या रात भर ठहरने का परमिट तो फीस दे कर पा लेते हैं, अन्य समय या अन्य प्रकार के परमिट के लिए पूरी जाँच होती है। सदिया से लगभग चालीस मील आगे टामेड तक मोटर जाती है, परशुराम के लिए फिर टामेड घाट पर ब्रह्मपुत्र (जो यहाँ पर लुहित कहलाती है, इसी का संस्कृत नाम जो महाभारत में मिलता है लौहित्य है) पार करके चार-पाँच मील पैदल जंगल पार करना पड़ता है। किन्तु अठारह-बीस मील जाकर ही भीतरी सीमा पर पहुँच जाते हैं।

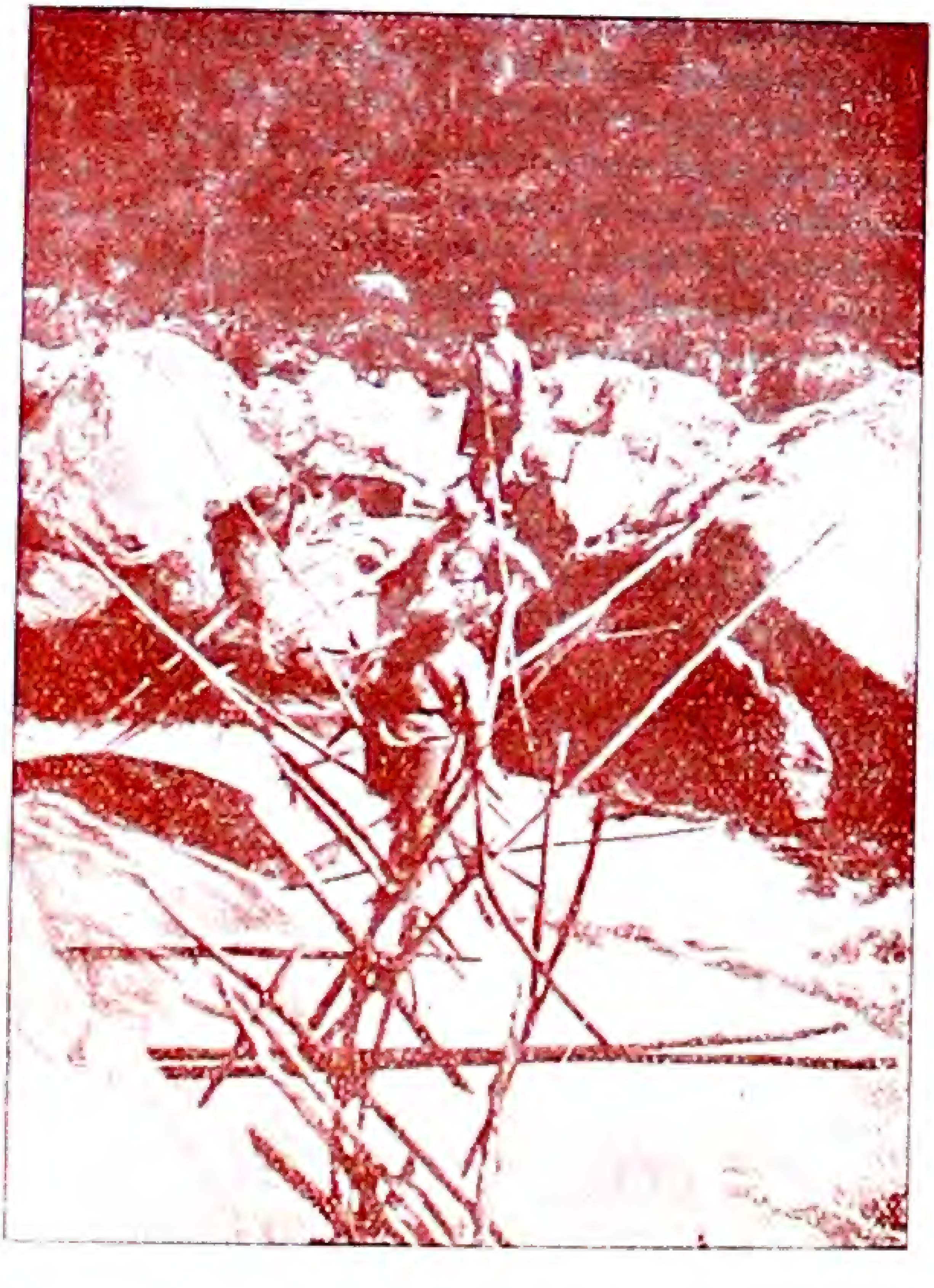
सदिया से तीन-चार मील जाकर ही ब्रह्मपुत्र की एक उपनदी पार करनी पड़ती है, जो अब कुंडिल कहलाती है। प्रसिद्धि है कि इसी नदी के किनारे कुंडिनपुर की राजधानी थी, और यहीं से रुक्मिणी को लेने कृष्ण आये थे। पुरानी रिपोर्टों से पता चलता है कि इस शताब्दी के आरम्भ में भी यहाँ 'अति-प्राचीन' परकोटे आदि के खंडहर थे, किन्तु जहाँ इन के पाये जाने का वर्णन था, वहाँ पर नयी सर्वे के नक्शा में लिखा है 'इम्पेनेट्रेबल फारेस्ट'—अभेद्य जंगल! और यह अभेद्यता काव्योचित अतिरंजना नहीं, यह यायावर ने स्वयं परख कर देख लिया। इस नदी पर पुल नहीं है और गाड़ी को नौका पर लाद कर पार करना पड़ता है; जब तक यह हो तब तक यायावर ने नदी-मार्ग से उस जंगल में घुसने की सोची, क्योंकि स्थल से दुर्भेद्य जंगल डोंगी में बैठकर जाने वाले के लिए उतना दुर्भेद्य नहीं रहता... पर जल्दी ही उसने समझ लिया कि दो-चार दिन की फुरसत न हो तो पड़ताल करना भी व्यर्थ है...

*   *   *



एक मिश्मी योद्धा

[पृष्ठ ८ के सम्मुख



अबोरों द्वारा निर्मित बाँस का पुल

[पृष्ठ ८–९ के बीच



आबोरों द्वारा निर्मित बेत का झूलना पुल

[पृष्ठ ८-९ के बीच

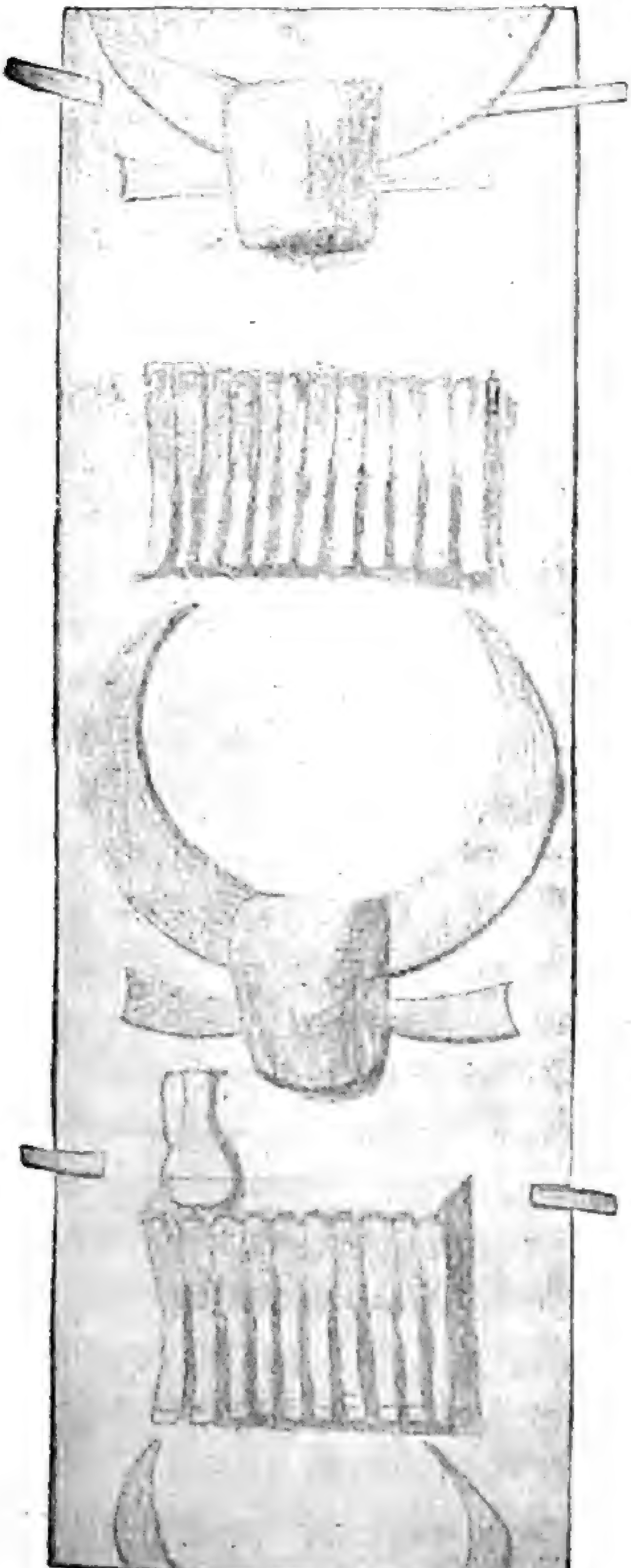


मिश्मी योद्धा



एक आबोर नृत्य

[पृष्ठ ९ के सम्मुख



पहाड़ी काष्ठकार्य—झोंपड़े के किवाड़ पर मंगलसूचक मिठून मस्तक

कदली वन...

जिसने वह नहीं देखा, वह नहीं मानेगा कि संस्कृत वाक्यों में कदली वन में विचरते हाथियों का जो वर्णन मिलता है, वह अक्षरशः सत्य हो सकता है। जंगली ही सही, केले के इतने बड़े जंगल कि दो घंटे मोटर दौड़ा कर भी पार न हों... और उन की चिकनी, गहरी, हरी छाँहों में कहीं हाथियों के झुंड, और कहीं बड़ी शालीनता से घूमते मिठून... मिठून अरना भैंसा ही होता है, किन्तु अरने भैंसे से कहीं अधिक गठे शरीर वाला और फुर्तीला... वन्य जातियाँ सभी मिठून को पूज्य मानती हैं, कुछ जातियाँ अपने को मिठून-कुलोत्पन्न बताती हैं और मिठून को अपना पूर्वज मान कर पूजती हैं। कहीं-कहीं मादा मिठून पालते भी हैं....

बारह-एक मील जाकर होलोगाँव का छोटा पड़ाव था, जहाँ अमरीकी सैनिकों ने शायद रेडियो चौकी बना रखी थी। पोलिटिकल एजेंट ने बताया था कि यहाँ के सैनिकों ने मिठून के धोखे में मिश्मियों की कुछ भैंसें मार डाली थीं; फिर एजेंट के बीच-बचाव कर के हरजाना दिलाने पर किसी तरह निबटारा हो सका था। अमरीकी प्रायः किसी के भुलेखे में किसी को मारते और फिर हरजाना भरते रहते थे! जहाँ ऐसी घटना या घटनाएँ हो जायँ, वहाँ कुछ देर के लिए खाकी वर्दी बहुत अप्रिय हो जाती—क्योंकि वनवासियों के लिए सब फ़ौजी एक हैं, फिर फ़ौजियों में आपस में भले ही यह हो कि अंग्रेज अमरीकी को मूर्ख कहे, अमरीकी अंग्रेज़ को असामाजिक, या हिन्दुस्तानी एक को दम्भी और एक को आवारा! तभी यायावर इस प्रदेश में विशेष सतर्क भाव से मोटर चला रहा था। कुछ राह चलते मिश्मियों ने हाथ उठा कर गाड़ी रोकी तो उसने रुक कर चार-छः को पीछे बिठा तो लिया, और मुड़-मुड़ कर उन की ओर को उन्हीं की-सी खुली चौड़ी हँसी हँसता रहा, पर मन ही मन सोचता रहा कि इनके कन्धों पर कसे हुए तीर-धनुष और कमर में खोंसे हुए खाँडे किस-किस काम आ सकते हैं. . . . पर अपने-अपने पड़ाव पर ये अतिथि उतरते गये और एक अद्‌भुत मूर्धन्य स्वर में धन्यवाद देकर और हँस कर चलते गये. . . टिज़ू के बाद जब अन्तिम कुछ मील के जंगल में प्रवेश हुआ, तब उस की अत्यन्त ऊँची-नीची काई और कीचड़ की फिसलन-भरी कच्ची सड़कें पार करने के लिए ट्रक में रह गये केवल यायावर, उस का अनुचर जीतबहादुर लामा, और कुन्दनसिंह जो कभी शिलङ्ग में नगरपालिका (म्युनिसिपैलिटी) का मेहतर था, किन्तु यायावर के साथ पहले अर्दली हुआ था और फिर ट्रक का क्लीनर–जिस के लिए वह वेतन पाता था नौसिखिये ड्राइवर का—और जिस को अगर कोई कभी 'ड्राइवर साहब' कह कर आवाज दे देता तो वह ऐसा विभोर होकर झूमने लगता मानों अब गिरा, अब गिरा. . .

जंगल पार कर के पेड़ों के तने जोड़ कर बनाये हुए एक काठघर

के नीचे ट्रक रुका। यह टामेइ का पड़ाव था, जहाँ से उत्तर को एक रास्ता रीमा (उत्तरी बर्मा) को जाता है। कभी यह भारत और चीन को जोड़ने वाला एक मार्ग रहा होगा, पर अब नहीं। उन दिनों अवश्य इसकी नयी 'सर्वे' हुई थी और सड़क बनाने का विचार हो रहा था, आरम्भ का कुछ अंश बना भी था। पड़ाव से कुछ आगे ही मिश्मियों की छोटी-सी बस्ती थी, कई-एक नंग-धड़ंग बच्चे आकर ट्रक को देखने लगे। दो-तीन फर्लांग जाकर लुहित का किनारा मिला। नदी यहाँ वेगवती थी, निर्मल जल में नीचे पत्थर दीख पड़ते थे, पर यहाँ भी उसका रूप वैसा था जैसा पहाड़ छोड़ने पर नदी का होता है——लगभग जैसा हृषीकेश में गंगा का है—यद्यपि यहाँ के जंगल की तुलना नहीं है।

नद पार करके चार मील जंगल का रास्ता।

जंगल में बीच-बीच में खुला घास-भरा प्रदेश आ जाता, जिस में महाकाय सेमल के धवल-गात पेड़ मानों आगमिष्यत् रक्त-प्रसूनों की सुलगती हुई पूर्वानुभूति से कंटकित हो रहे थे, और कहीं-कहीं किंशुकों के झुरमुट। कुछ ही दिन में इनमें आग खिल जायगी; पहाड़ियों के पार्श्व को चिपटती हुई, लपलपाती एक के बाद एक रूख को लीलती हुई ऊपर तक फैल जायगी, और ब्रह्मपुत्र का बालुका के पीले उत्तरीय में लिपटा हुआ नील गात, मानों वसन्त-श्री के लाल चुम्बनों से मुद्रांकित हो उठेगा ! फिर धीरे-धीरे मद उमगेगा और उस का उद्बुद्ध पौरुष आसपास के प्रदेश को लील लेना चाहेगा—लील लेगा—और अपनी सफलता के खेद से खिन्न और गँदला हो उठेगा...

किन्तु रूपक को और दूर तक खींचना आवश्यक नहीं है, चट्टानों के बीच की गली से होकर यायावर एक कुछ खुली जगह पहुँच कर ठिठक गया है। सामने परशुराम का कुंड है।

*　　　*　　　*

कुंड वास्तव में ब्रह्मपुत्र की धारा का ही एक आवर्त है। नद जब समतल भूमि में प्रविष्ट होता है तब, मानो महासागर में अपनी चरम

निष्पत्ति की खोज में अभिनिष्क्रिमण का निश्चय कर के भी, एक बार वह पीछे मुड़ कर महान् स्थित-चेता हिमालय का दर्शन कर लेना चाहता है जिस के आश्रय में उस ने अपनी लगभग आधी यात्रा हँसते-खेलते-उछलते-कूदते ही तय कर ली है। मंडलाकार घूम कर, हिमालय की चरण-रज ले कर, फिर वह धीर गति से आगे बढ़ जाता है। आर्वत के दाहिनी ओर, जहाँ धारा पहले टकराती है, कुछ ऊँचाई पर पहाड़ के पार्श्व से एक सोता फूटता है जिसका जल आ कर कुंड में पड़ता है; यह सोता ब्रह्म-धारा है। बायीं ओर जिस शिखर के पैर छूता हुआ ब्रह्मपुत्र आगे बढ़ता है, उस पर एक छोटा-सा मन्दिर है। यायावर जहाँ खड़ा होकर दृश्य देखता है, वहाँ पीछे जस्ते की चादर और लकड़ी की कई-एक कोठरियाँ हैं, जहाँ यात्री रात में ठहर सकते हैं।

यायावर ठिठक कर देखता रहता है। इसी तरह कभी परशुराम भी वहीं पर ठिठक कर क्षण भर दृश्य को देखते रहे होंगे, और तब उन्होंने जाना होगा कि उन का स्वप्न ठीक था और यहाँ उनकी आत्मा शान्ति पायेगी। तब उन्होंने नीचे उतर कर स्नान किया होगा और मनस्ताप मिटाने का उपक्रम करने से पहले शरीर की क्लान्ति धोयी होगी...

कथा है कि पिता की आज्ञा से मातृ-वध करने के पश्चात् परशुराम के मन में ग्लानि हुई, और वे पिता के आश्वासन देने पर भी अपने को मातृघात के महापातक से मुक्त न मान सके। बहुत तपस्या कर के भी जब उन के मन से पाप का कलुष न धुला, तब एक दिन भगवान् ने उन्हें स्वप्न में दर्शन दे कर उन्हें ब्रह्मपुत्र के इस कुंड में स्नान करने का आदेश किया और कहा कि वहाँ तपस्या करने से उनके मन का परिष्कार होगा। परशुराम खोजते हुए इस स्थल पर पहुँचे; कुंड में और फिर ब्रह्म-धारा के नीचे स्नान कर के उन्होंने तपस्या की और पाप के बोझ से मुक्त हुए।

यायावर ने कुंड में, और फिर धारा के नीचे स्नान किया। कुंड का जल बर्फ़-सा ठंडा है, सोते का जल गर्म। अतः इसी क्रम से स्नान करना

अत्यन्त सुखद प्रतीत होता है। स्नान से पाप धुल जाते हैं; पाप तो दीखते नहीं, अतः उनके दृश्य प्रतीक के रूप में जिन वस्त्रों से स्नान किया जाता है उन्हें कुंड पर ही छोड़ देने की प्रथा है। इस सरल उपाय से यात्री अपने पाप वहीं छोड़ कर चले आ सकते हैं! यायावर जब गया तब तो कुंड पर सन्नाटा था, पर संक्रान्ति आदि के स्नानों पर जब भीड़ लगती है, तब मुमुक्षुओं से अधिक उत्साह उन के पाप-मोचन के लिए वहाँ जुटे हुए मिश्मी स्त्री-पुरुष दिखाते हैं। मुमुक्षु नहा कर निकले-न-निकले कि मुक्ति-पथ के ये सहायक उस की धोती-गमछा-लँगोट जो कुछ हो खींच लेते हैं, और कभी-कभी मुमुक्षु को उस परम निष्पाप अवस्था में ही अपने सूखे कपड़ों तक जाना पड़ता है। इसका विरोध सम्भव नहीं है, यही रीति चली आयी है। और सभ्य मुमुक्षुओं के पाप का बोझा इस प्रतीक के द्वारा ढोने का अधिकार सदा से असभ्य उपत्यका-वासी मिश्मियों का रहा है। विकसित नागरिक सभ्यता के पापों का बोझ अविकसित वन्य जातियों द्वारा ढोया जाता है। इस सत्य का यह रीति स्वयं कितना अर्थ-पूर्ण प्रतीक है, इसकी ओर कदाचित् दोनों ही पक्षों का ध्यान कभी नहीं जाता होगा!

* * *

ट्रक तक पहुँचते-न-पहुँचते दिन छिप गया। गाड़ी का डायनेमो चार्ज नहीं करता, अतः बत्ती तो जलायी न जायगी, अँधेरे में ही गाड़ी चलाना होगा। जितनी जल्दी हो सके, जंगल का पहला बहुत घना और कीचड़ वाला खंड पार कर लिया जाय, उसके बाद पक्की सड़क पर रुक कर कहीं चाय बनायी जायगी और फिर चाँद उठ आने पर आगे बढ़ा जायगा...

जंगल पार हो लिया गया। बीच में कहीं-कहीं मोड़ों पर रास्ते से थोड़ा भटक कर फिर उलटा लौट कर पथ खोजना पड़ा, किन्तु विशेष असुविधा न हुई।

पक्की सड़क पर आ कर जल्दी-जल्दी चाय पी गयी। चाँद निकल आया, और रास्ता तथा वन्य प्रदेश कुछ साफ़ दीखने लगा, पर गाड़ी चलाते ही हल्की-सी धुन्ध छाने लगी और दीखना असम्भव हो गया।

धीरे-धीरे चलते रहे। आधा रास्ता तय हो चुका था, और कुछ मील जा कर होलोगाँव आयेगा जहाँ अमरीकी ठिया है और पास ही जंगलों के विभाग का बँगला...

हठात् स्टियरिंग लड़खड़ाया और एक शब्द हुआ, जिस की हिन्दी अभिधा 'धड़ाम' से बँगला के ध्वन्यनुसारी 'फटाश्' में कहीं अधिक सजीवता है। पंक्चर! यायावर ने पहले स्टियरिंग सँभाल कर फिर ब्रेक लगा दिये, गाड़ी रुक गयी।

पहिया देखा गया। अन्धकार में औज़ार निकाल कर टटोले गये; जैक को धुरी के नीचे रखा गया। जैक नीचा था, नीचे ज़मीन भी पोली थी, उसे जमाने के लिए पत्थर की ज़रूरत होगी। यायावर ने कुन्दनसिंह को पत्थर ढूँढ़ लाने के लिए कहा, और स्वयं स्पैनर लेकर नये पहिये को खोलने लगा।

नया पहिया पंक्चर वाले पहिये के साथ टिका दिया गया। ढिबरियों को एक-एक चक्कर घुमा कर नरम कर लिया गया; अब धुरी उठे तो पहिया खोला जाय। पर कुन्दनसिंह का कोई पता नहीं। यायावर ने थोड़ी प्रतीक्षा की, फिर भुनभुनाते हुए जा कर स्वयं पत्थर ढूँढ़ने लगा। पत्थर ले कर लौटा, तब अभी कुन्दनसिंह का कोई चिह्न नहीं था। यायावर ने पत्थर जमा कर जैक उठाया, और पहिये की ढिबरियाँ खोलने लगा। स्पैनर के एक-एक चक्कर के साथ-साथ उसका पारा एक-एक डिगरी चढ़ता जा रहा था।

सब ढिबरियाँ खोल कर जब पहिया गिराया गया तब अपने बड़े फ़ौजी बूटों को ढबर-ढबर बजाता हुआ दो पत्थर उठाये कुन्दनसिंह धुन्ध में से अवतीर्ण हुआ। यायावर ने दाँत पीस कर कहा, "मिल गये तुम्हें पत्थर?"

उजड्ड का मुस्कान परमास्त्र है, वह मुस्कान जो स्पष्ट बता देती है कि जब मुझ में अपना दोष समझने की ही बुद्धि नहीं तब आपका क्रोध कैसे समझूँ।

वही मुस्कान कुन्दनसिंह के चेहरे पर थी। खीसें काढ़ कर बोला, "जी, ज़रा ठहर गया था।"

यायावर और भी क्रुद्ध स्वर में कुछ कहने ही जा रहा था कि कुन्दनसिंह ने वैसे ही कहा, "ज़रा साँप लड़ गया था।"

यायावर अवाक्। साँप काट गया! 'गया' नहीं, 'गया था'! वह भी 'ज़रा'! थोड़ी देर बाद उसे ध्यान हुआ कि इतनी देर में उसने कुछ कहा ही नहीं है; कुछ कहना ज़रूरी है। पर कहे क्या इस आदमी को? अपनी असमर्थता पर ग़ुस्सा ही उसके प्रश्न में प्रकट हुआ, "साँप मर गया कि नहीं?"

इस प्रश्न का अर्थ कुन्दनसिंह की बुद्धि के स्पष्टतया बाहर था। उसने अचकचा कर कहा, "जी?"

"तुमको जिस साँप ने काटा, वह मर गया कि नहीं? कम-से-कम दाँत तो टूट गये होंगे?" कहता हुआ यायावर भी उठा। ट्रक में से पेटी खोल, माचिस, मोमबत्ती, दवा का बक्स आदि निकाल कर कुन्दनसिंह की टाँग देखने पर मालूम हुआ कि साँप ने जीन की पैंट के ऊपर से काटा था, दाँत हल्के लगे। चाकू से निशान ज़रा खोल कर उसमें दवा मल दी गयी, फिर पहिया फ़िट कर के गाड़ी चली। रात बारह बजे के लगभग कुंडिल नदी पार कर के थोड़ी देर में सदिया पहुँच गये। सर्किट हाउस में जो तेल का लैम्प जल रहा था, उसकी दीप्ति ऐसी लगी, मानों कभी उतना प्रकाश न देखा हो। साथ ही उस 'ठीक-ठिकाने' कमरे में दिन भर के जंगल के दृश्य मानों स्वप्न की तरह खो गये—वैसे ही बहिष्कृत हो गये जैसे फिरंगी पोलिटिकल एजेंटों के दफ्तरों से वनवासी फ़रियादी ताड़ित कर दिये जाते होंगे।

लेकिन यायावर के मन में जो जंगल की पुकार गूँजती है, उसे सर्किट हाउस के कमरे की दीवार नहीं रोक सकती...

* * * *

सदिया का प्रदेश कामरूप के इतिहास के कई स्मारक अपने गहन वनों में छिपाये है। कुछ की झाँकी जब-तब मिलती रही है, कुछ कभी देखे जा सकते थे लेकिन अब बिल्कुल ही लुप्त हो गये हैं। सदिया भी प्राचीन 'सुटिया' राज्य का अवशेष है, जो स्वयं कदाचित् महाभारतकालीन राजा भीष्मक के वंश के ह्रास के बाद खड़ा हुआ था। प्राचीन इतिहास की शोध में यहाँ जाना अनावश्यक है, किन्तु सदिया की व्युत्पत्ति मनोरंजक है।

कथा है कि भीष्मक का एक वंशधर वीरपाल (अथवा वीरवर) सोनागिरि का राजा था। उसकी रानी रूपवती ने पुत्रलाभ ने लिए कुबेर की स्तुति की। कुबेर एक दिन उसके पति का रूप धारण कर रूपवती के पास आये। रूपवती ने उन्हें नहीं पहचाना और उनके साथ रमण किया। अनन्तर वीरपाल को कुबेर ने स्वप्न में दर्शन दे कर आदेश किया कि एक वृक्ष विशेष के नीचे जा कर देखे, वहाँ जो कुछ उसे मिले उसे पूज्य मान कर ग्रहण करे। वीरपाल वृक्ष के नीचे गया; वहाँ उसे एक तलवार, एक ढाल, और ढाल से ढकी हुई एक सोने की बिल्ली मिली। कालान्तर में रूपवती ने पुत्र प्रसव किया जिसका नाम गौरीनारायण रखा गया। यही कुबेर-पुत्र गौरीनारायण वीरपाल के बाद राजा हुआ और रत्नध्वज पाल के विरुद से प्रसिद्ध हुआ। असमीया भाषा की एक बुरंजी (हस्तलिखित इतिहास ग्रन्थ) से विदित होता है कि उसने शक सं० ११४६ (ईसवी १२२४) में राज्य ग्रहण किया।

रत्नध्वज ने राजा भद्रसेन को परास्त करके एक नया नगर बसाया जिसका नाम रत्नपुर रखा। उसके पराक्रम ने उसकी राज्य का बहुत विस्तार किया। बुरंजी के अनुसार बंगाल के सुलतान जलालुद्दीन मसूद मलिक जानी से उसने मैत्री स्थापित की और सुलतान ने उसे समय-समय पर गंगाजल भेजना स्वीकार किया और बदले में परशुराम कुंड का पानी चाहा!

रत्नध्वज का एक पुत्र उस समय बंगाल में गौड़ेश्वर राजा के पास शिक्षा के लिए रहता था। इस कुमार की बंगाल में ही मृत्यु हो गयी।



परशुराम कुंड के मार्ग में ब्रह्मपुत्र (लुहित) का घाट : टामेई

[पृ० १६ के सम्मुख

मुटिया राजाओं की दाह-संस्कार विधि से अनभिज्ञ होने के कारण गौड़ेश्वर ने कुमार का शव उसके पिता के पास भेजने का निश्चय किया। रत्नध्वज तब लुहित के तट पर सिन्धुक्षेत्र में एक नया महल बनवा रहा था। यहीं सिन्धुक्षत्र में कुमार का शव उसे दिया गया, और इसी घटना के कारण उस स्थान का नाम स-दिया (जहां शव दिया गया) पड़ गया। तब से यही नाम प्रचलित है।

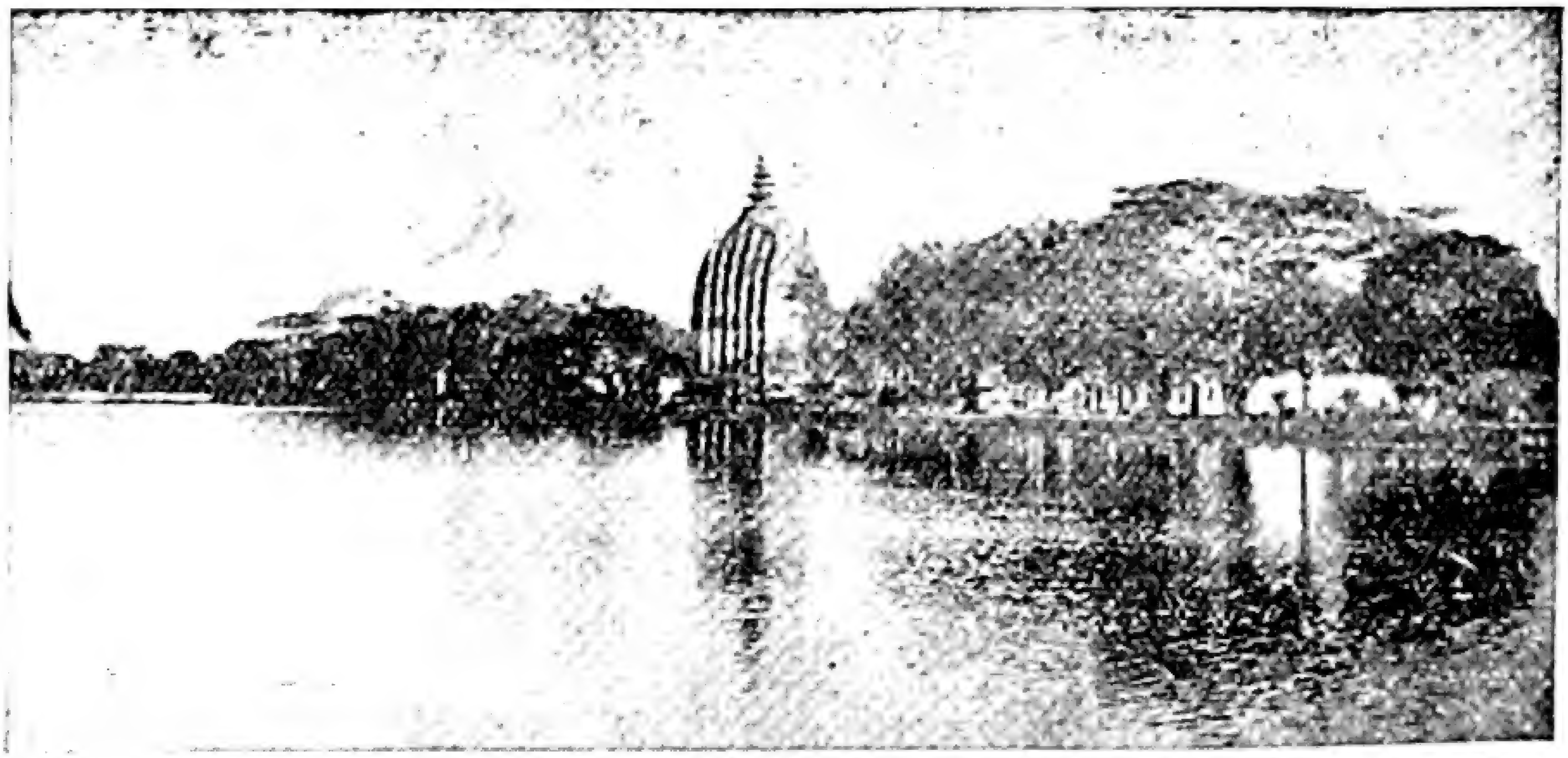
वर्तमान देवरिया मुटिया जाति के लोग अपने को क्षत्रिय बताते हैं। संभव है कि 'मुटिया' भी 'क्षत्रिय' से बना हो। जो हो, उनकी भाषा में हिन्दी संस्कृत शब्द प्रभूत हैं, और बुरंजी में लिखा है कि जब मुटिया बर्मा से असम आये तब केवल उन्हीं के पास लिपि थी, जिससे सिद्ध होता होता है कि यह जाति साक्षर और संस्कृत थी। अब भी देवरिया जाति उच्च जाति मानी जाती है और उनके घरों में हर कोई प्रवेश भी नहीं पा सकता।

मुटिया राजा तान्त्रिक थे, और उनके बनवाये हुए ताम्रेश्वरी देवी के मन्दिर के अवशिष्ट अब भी सदिया के उत्तर में पाये जाते हैं। सन् १८४८ में एक अंग्रेज़ यात्री ने यह मन्दिर देखा था; उस का तांबे का कलश तब टूट कर अलग पड़ा हुआ था। अब यह प्रदेश जंगल ने लील लिया है। अनुमान किया जाता है कि पहले ब्रह्मपुत्र की धारा यहीं बहती थी, उसका पाट क्रमशः दक्षिण को हटता गया और जल दुर्लभ होने से उत्तरी प्रदेश उजड़ते गये। कालान्तर में अहोम आक्रमणों से परास्त होने पर मुटियों का वैभव मिट ही गया, तब ये उत्तरी प्रदेश जंगल के आक्रमण को भी न रोक सके और डूब गये। असम में अन्यत्र कई स्थानों पर ऐसा हुआ है।[२]

* * * *

२. सन् १९५० के भूकम्प से लुहित और सदिया के निकट उससे मिलनेवाली डि-हांग की धाराओं में अनेक परिवर्तन हुए हैं। जिस शृंग के कारण ब्रह्मपुत्र में वह आवर्त्त बना था जो परशुराम कुंड था, वह शृंग भी धँस गया है; कुंड अब नहीं है! —ले०

गाड़ी तिनसुकिया तक नहीं पहुँची। डुमडुमा से कुछ आगे बैटरी की शक्ति समाप्त हो गयी, एंजिन बन्द हो गया। डायनेमो में सफ़ाई आदि कर के जो काम-चलाऊ प्रयोग किये जा सकते थे, किये गये, पर व्यर्थ। अन्त में एक अमरीकी ट्रक के पीछे जुत कर घिसटते हुए तिनसुकिया पहुंचे, जहां तीन-चार दिन गाड़ी ठीक-ठाक कराने में लग गये।



शिवसागर

तिनसुकिया रेल का जंक्शन है। यहां से एक लाइन तो सीधी सैखुआ घाट चली गयी है, एक और पूर्व को मुड़ कर डिगबई के तैल-क्षेत्र को पार कर के मारगरिटा और लेडो जाती है जहां से बर्मा-चीन वाली सड़क का आरम्भ होता है। प्रस्तुत प्रसंग में उस क्षेत्र का वर्णन अनावश्यक है।

यों तो यह यात्रा विशेष यहां से आगे अप्रासंगिक हो जाती, क्योंकि तिनसुकिया से डिब्रूगढ़ लौट कर यायावर ने अपना कार्यसूत्र फिर पकड़ा, और जैसे तरुवासी एक प्रकार की मकड़ी अपने झूलते सूत्र के सहारे पेड़ पर चढ़ जाती है और फिर झूलती है, वैसे ही उसके सहारे क्रमशः अपने केन्द्र शिलङ जा पहुँचा जहां से फिर नया अभियान आरम्भ हुआ।

किन्तु एकाधिक किश्तों में ही सही, परशुराम कुंड से उत्तर-पश्चिम की यात्रा धीरे-धीरे अग्रसर होती ही रही, और यहाँ दफ़्तर आदि गौण बातों को छोड़ कर भटकने के मुख्य विषय को ही लिये रहना अभीष्ट है।

शिवसागर।

बँगला में स, श, ष, सब का जैसे 'श' उच्चारण होता है, वैसे असमीया में सब 'ह' हो जाते हैं। इसी लिए 'शिवसागर' भी 'हिवहागर' उच्चारित होता है (यद्यपि अंग्रेज़ी लेखन-उच्चारण 'सिब्सागर' के प्रभाव से वैसा उच्चारण असमीयों में भी बढ़ता रहा है)। यह बस्ती एक बड़े ताल के किनारे बसी है, जो अहोम राजत्वकाल में बना था, और इसलिए एक अचरज माना जाता है कि उसका तल आसपास के प्रदेश से लगभग तीस फुट ऊँचा है, फिर भी ताल सदा भरा रहता है—बल्कि उसका तल भी लगभग एक-सा रहता है। इसी सागर के किनारे तीन मन्दिर हैं, और यहाँ से जोरहाट के रास्ते पर रुद्रसागर और जयसागर के किनारे और मन्दिर और महल भी। शिवसिंह और रुद्रसिंह प्रतापी अहोम राजा थे, और जयमती एक वीर नारी जिसका नाम असम का बच्चा-बच्चा जानता है और जिसका चरित असमीयों को उत्कट देशप्रेम का पाठ सिखाता है।

जोरहाट—नवगाँव—गौहाटी। गौहाटी वास्तव में 'गुवा हाटी' है—असमीया सुपारी (गुवाफल) की प्रसिद्ध प्राचीन हाट। यह असमीया कामरूप राज्य की राजधानी और प्रमुख व्यापार केन्द्र तो रही ही; इसके अतिरिक्त नीलाचल पर स्थित कामाख्या देवी के मन्दिर के कारण इसकी कीर्त्ति और भी फैली। असमीया लोग तो निराकारोपासक वैष्णव हैं; पर कामाख्या के दर्शन के लिए हज़ारों बंगाली प्रति वर्ष आते हैं। दर्शनार्थियों को देख कर पंडों का जो झुंड उन पर टूटता है, वह बंगला शब्दों की ध्वनि पड़ते ही सतभैयों की तरह मुखर उत्साह प्रदर्शित करने लगता है, किन्तु अन्य भाषाओं को सुन कर अप्रतिभ हो कर प्रायः कहता है, 'अरे एरा तो बंगाली नय!'—अरे ये तो बंगाली नहीं है! और

असमीया भाषा सुन कर तो पंडावृन्द वैसा ही विश्री हो जाता है जैसे प्रभात के समय का छोटा उल्लू !

*　　　*　　　*

मध्य—असम से पंजाब

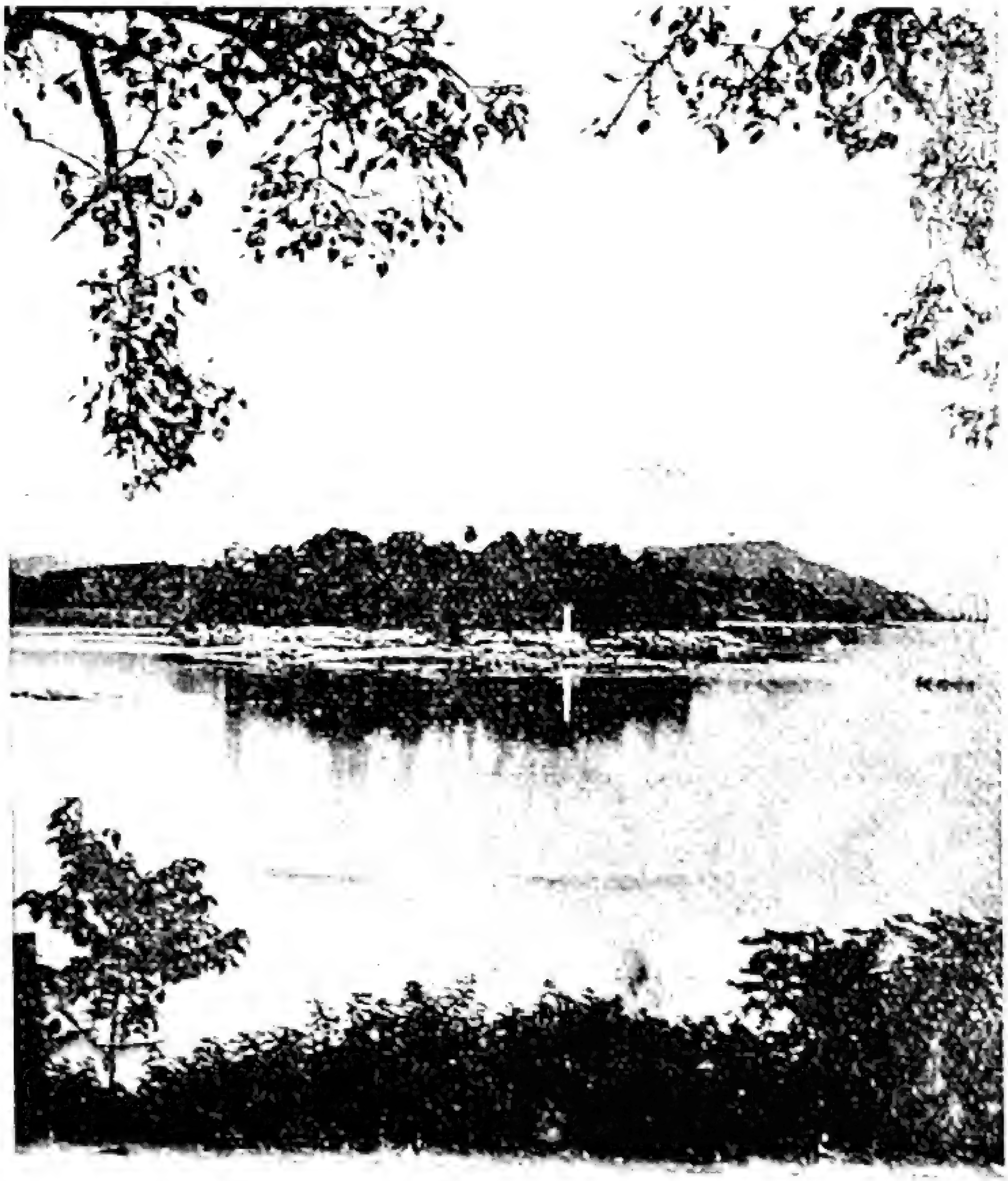
यायावर को आज्ञा मिली कि पाँच गाड़ियों का 'कानवाई' ले कर असम से पंजाब जाय—असम से उसकी छोटी-सी टोली को स्थानान्तरित किया जा रहा था और भविष्य में उसका कार्य-क्षेत्र पंजाब और सीमाप्रान्त में होगा.....

यों तो तैयारियाँ सभी तरह की होती हैं, पर उनमें 'कानवाई' की तैयारी का एक विशिष्ट स्थान होता है—ठीक वैसे, जैसे बुखारों में जूड़ी-बुखार का। इतना कह कर उसके विशद वर्णन को छोड़ देना चाहिए—क्योंकि आखिर तो वह तैयारी ही है न, स्वयं अभियान तो नहीं।

अप्रैल के एक गीले दिन भोर होते ही 'लाद चला बनजारा'। अभी झुटपुटा था, वर्षा के कारण और भी फीका। यायावर का मन स्तब्ध था। उसके लिए सब रैन-बसेरे हैं, कहीं यात्रान्त तो है ही नहीं, इस लिए कहीं से चलने पर उदास होना निरर्थक है; किन्तु किसी-किसी पड़ाव पर जो शान्ति और स्नेह मिल जाता है, उसका आकर्षण तो बना ही रहता है... रहे, मगर राह पर आज जो मिला, उसे आज की लब्धि नहीं, कल का पाथेय मानना होगा, और चलना होगा...चल यायावर, चल ! 'जहाँ भी कोई चला जाय, वहीं कोई हरी-भरी पहाड़ी मिल जायगी !' कल का पाथेय मिला है तो कृतज्ञ हो, प्रणाम कर, और आगे बढ़ !

शिलङ के पहले उतार की चीड़ की घाटियों से निकल कर बड़ापानी नदी पार कर के जब खुली हरियाली की पहाड़ियों में बजरी की सड़क लहराने लगी, तब कहीं जाकर यायावर का मन चेता, और चेत कर आगे को उन्मुख हो गया। गौहाटी पार कर के नीलाचल की

छाया में होते हुए 'कानबाई' पलाशबाड़ी जा निकला, जो असमीया रेशम की बड़ी मंडी है; और फिर दाहिने को ब्रह्मपुत्र और बायें को खसिया



गौहाटी में ब्रह्मपुत्र का दृश्य
(सामने उर्वशी स्तंभ और उमानंद भैरव का द्वीप)

पर्वत से लगी हुई गारो पर्वत-श्रेणी रखते हुए बढ़ कर ग्वालपाड़ा जा

रुका। यहीं से कुछ आगे जोगीगुफा का घाट है, जहाँ नाव पर लाद कर गाड़ियाँ ब्रह्मपुत्र के पार उतारी जायँगी और कूचविहार का रास्ता पकड़ेंगी। रात ग्वालपाड़े में ब्रह्मपुत्र के किनारे एक टीले पर बने हुए बँगले में काटी, और सवेरे जोगीगुफ़ा के घाट पर जा पहुँचे। जोगीगुफा नाम का इतिहास है। आस-पास का वन-प्रदेश तान्त्रिकों की साधना का क्षेत्र था और यहाँ उनकी अनेक गुफाएँ हैं। यह भी प्रसिद्धि है कि तेरहवीं शती के आरम्भ में जब तुर्कों ने बिहार से बढ़ कर कामरूप पर आक्रमण किया, तब इन्हीं गुफाओं में रहनेवाले तान्त्रिकों के अभिचार से उनकी पराजय हुई। इस प्रसिद्धि की ऐतिहासिकता का कोई दावा नहीं। इतना अवश्य है कि ब्रह्मपुत्र के दाहिने तट पर बसी तत्कालीन राजधानी पर अधिकार कर के जब मलिक उजबक नद की बाढ़ से बचने के लिए बायें किनारे की पहाड़ियों से लगे-लगे नदी के प्रवाह की ओर उतरने लगा, तब गारो पहाड़ियों की तलहटियों में ही उसकी सेना भटक गयी। तुर्क इतिहासकार मिनहज ने मलिक उजबक के अभियान का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'देश में कृषि की उन्नत और सम्पन्न अवस्था देख कर मलिक उजबक ने अन्न भर रखना आवश्यक नहीं समझा था। जब चैत की कटनी का समय आया तब राजा और सारी प्रजा ने विद्रोह कर दिया और सब बाँध खोल दिये। मलिक उजबक और उसकी सेना असमर्थ हो गयी और भूखों मरने लगी। तब उसने पीछे हटने का निश्चय किया।...समतल प्रदेश में पानी भरा था, और हिन्दू बसते थे, (अतः) मुसलमानों ने एक पथदर्शक को ले कर पहाड़ों की तलहटी से हो कर जाने की सोची। किन्तु कुछ पड़ाव जा कर वे सँकरी पगडंडियों और घाटियों में खो गये। सहसा सामने और पीछे हिन्दुओं ने आक्रमण किया। एक तंग घाटी में सामने हाथियों की लड़ाई हुई; मुसलमान सेना के पैर उखड़ गये और हिन्दू-मुसलमान गुत्थमगुत्था हो गये। तभी हाथी पर सवार मलिक उजबक के तीर लगा, वह गिरा और बन्दी कर लिया गया। फिर उस के परिवार के सब लोग और सारी सेना बन्दी कर ली

गयी।' यह 'दुर्घटना' चाहे तान्त्रिकों के प्रताप से हुई हो चाहे नहीं, इसमें संदेह नहीं कि घाटी में से जाती हुई सेना पर आक्रमण आसपास की पहाड़ियों की गुफाओं से बड़ी सफलता के साथ किया जा सकता है, और सम्भवतया किया गया होगा, तभी तो उजबक की सेना 'सहसा' आगे-पीछे से आक्रान्त होकर परास्त हो गयी होगी।

*　　　　*　　　　*

जोगीगुफा से नद पार कर के एक रास्ता धुबड़ी हो कर कलकत्ते का है, किन्तु यह अच्छा नहीं है; और 'कानवाई' अच्छी सड़कों पर ही चलते हैं जब तक कि लाचारी न हो, इसलिए कूचबिहार की सड़क पकड़ी गयी। तीसरे पहर तक 'कानवाई' कूचबिहार की सीमा में प्रविष्ट हो गया था; कूचबिहार पहुँचा जा सकता था, किन्तु रात में बड़े शहर में ठहरने की जगह का कष्ट हो सकता है यह सब यायावर जानते हैं। अतः कुछ पहले ही दीनहट्टा के छोटे सफ़री बँगले के आगे गाड़ियाँ रोक दी गयीं। बँगला तो बाँसों का बना हुआ 'बासा' ही था और कमरों में जगह भी नहीं थी, पर बरामदे के कच्चे फ़र्श पर बाँस की चटाइयाँ बिछी थीं, और चारों तरफ खुला बगीचा भी था; रात काटने के लिए और क्या चाहिए? इधर प्रायः दिन छिपे ही हाट बैठती है, दीनहट्टा का बाजार अभी उठा नहीं था, केले, शाक-तरकारी, अंडे आदि बिक रहे थे...

सवेरे कूचबिहार से गुज़रे। छोटी-सी सुन्दर नगरी है। नाम वास्तव में कोचविहार होना चाहिए, क्योंकि कोच जाति की राजधानी है। किसी समय कोच साम्राज्य बहुत फैला हुआ था और उसकी धाक दूर-दूर तक थी। कोच राजवंश में कई प्रतापी राजा हुए जिनमें नरनारायण (ई० सोलहवीं शती) सर्व-प्रसिद्ध हैं। नरनारायण तथा उसके भाई एवं प्रधान सेनापति शुक्लध्वज ने असम पर आक्रमण कर के बहुत-सा प्रदेश जीत लिया था। शुक्लध्वज के दूर-दूर जाकर झपट्टा मारने के करतबों के कारण उसका नाम 'चील राय' पड़ गया था। एक दूसरे भाई कमल गोहाई (गोसाई) ने उत्तरी असम के आर-पार वह सड़क बनवायी थी जिसके

अवशेष कुछ वर्ष पहले तक मिलते थे और जो कूचबिहार से सदिया तक जाती थी। अब यह सड़क दुर्गम जंगल में खो गयी है और उस प्रदेश में कोई सड़क रही ही नहीं। सदिया जाने के लिए ब्रह्मपुत्र पार कर के बायें किनारे से जाना पड़ता है और सैखुआ में फिर दाहिनी पार जाते हैं।

नरनारायण और उसके भाइयों ने काशी में शिक्षा पायी थी। राजा होने पर नरनारायण के विद्याप्रेम की कीर्ति फैलने लगी और दूर-दूर से विद्वान् उसकी सभा में आने लगे। कोच राजवंश तो सनातन मतावलंबी था; किन्तु नरनारायण की कीर्ति सुन बंगाल के स्मार्त आचार्य रघुनन्दन भट्टाचार्य भी वहाँ पहुँचे। भट्टाचार्य महोदय शास्त्रार्थ-प्रवीण थे, और बंगाल बिहार, उड़ीसा के बहुत से पंडितों को पटकी दे चुके थे। उनका सहज स्मार्त मत इस भू-भाग में बहुत प्रचलित भी हो गया था। कोच राज-सभा में समादृत होने पर कोच साम्राज्य भी उनका अनुयायी हो जायगा, इसकी उन्हें पूरी आशा थी। दैवात् कोच राज-पुरोहित सार्वभौम भट्टाचार्य का देहान्त कुछ ही मास पहले हो चुका था, इसलिए विरोध की कोई आशंका भी न थी।

किन्तु सार्वभौम की विधवा ने राज-सभा में कहला भेजा कि दिवंगत पति की प्रतिष्ठा के लिए वही स्मार्त आचार्य से शास्त्रार्थ करेगी। राजा ने तदनुसार शास्त्रार्थ का दिन और समय नियत कर दिया, और राज्य के विद्वानों को निमन्त्रण भेज दिये गये।

एक विधवा की इतनी स्पर्धा! रघुनन्दन पंडित ने इस बाधा को क्षुद्र माना। स्त्री से राज-सभा में शास्त्रार्थ करने में समय क्यों नष्ट किया जाय, यह सोच कर नियत दिन से पहले दिन वे स्वयं ब्राह्मणी के घर पर पहुँचे। यहीं पर निर्णय हो जाय, तो सभा उनके निर्विरोध आधिपत्य की साक्षी होगी!

ब्राह्मणी को उन्होंने बड़े धैर्य के साथ अपनी स्मार्त अनुष्ठान-पद्धति समझायी। स्मार्त पद्धति न केवल सहज और बोध-गम्य है, वरन् वही एकमात्र ठीक पद्धति है, इस मत का प्रतिपादन जब वे कर चुके, तब

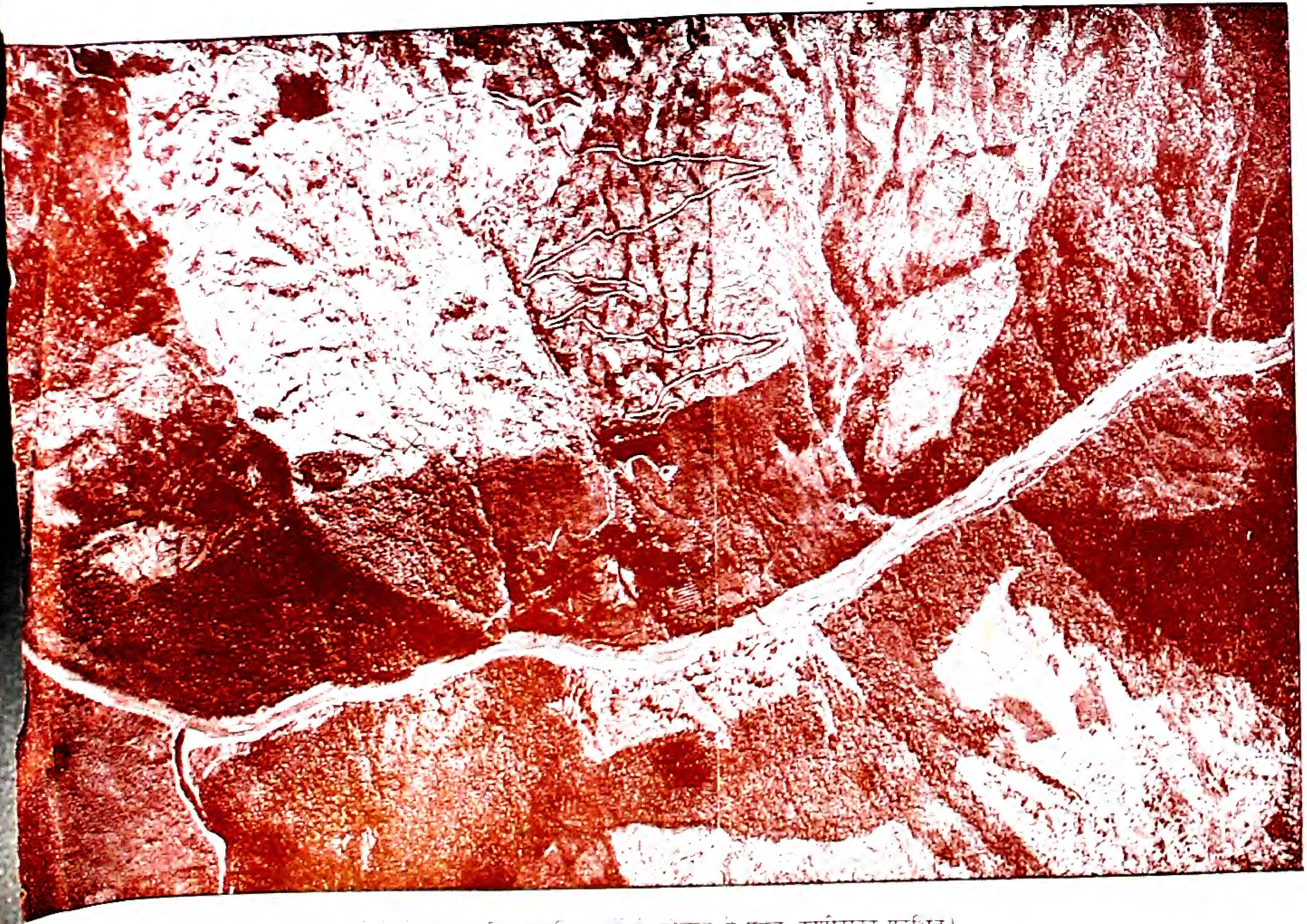


ब्रह्मपुत्र में उमानन्द भैरव द्वीप और उर्वशी स्तम्भ, गौहाटी.

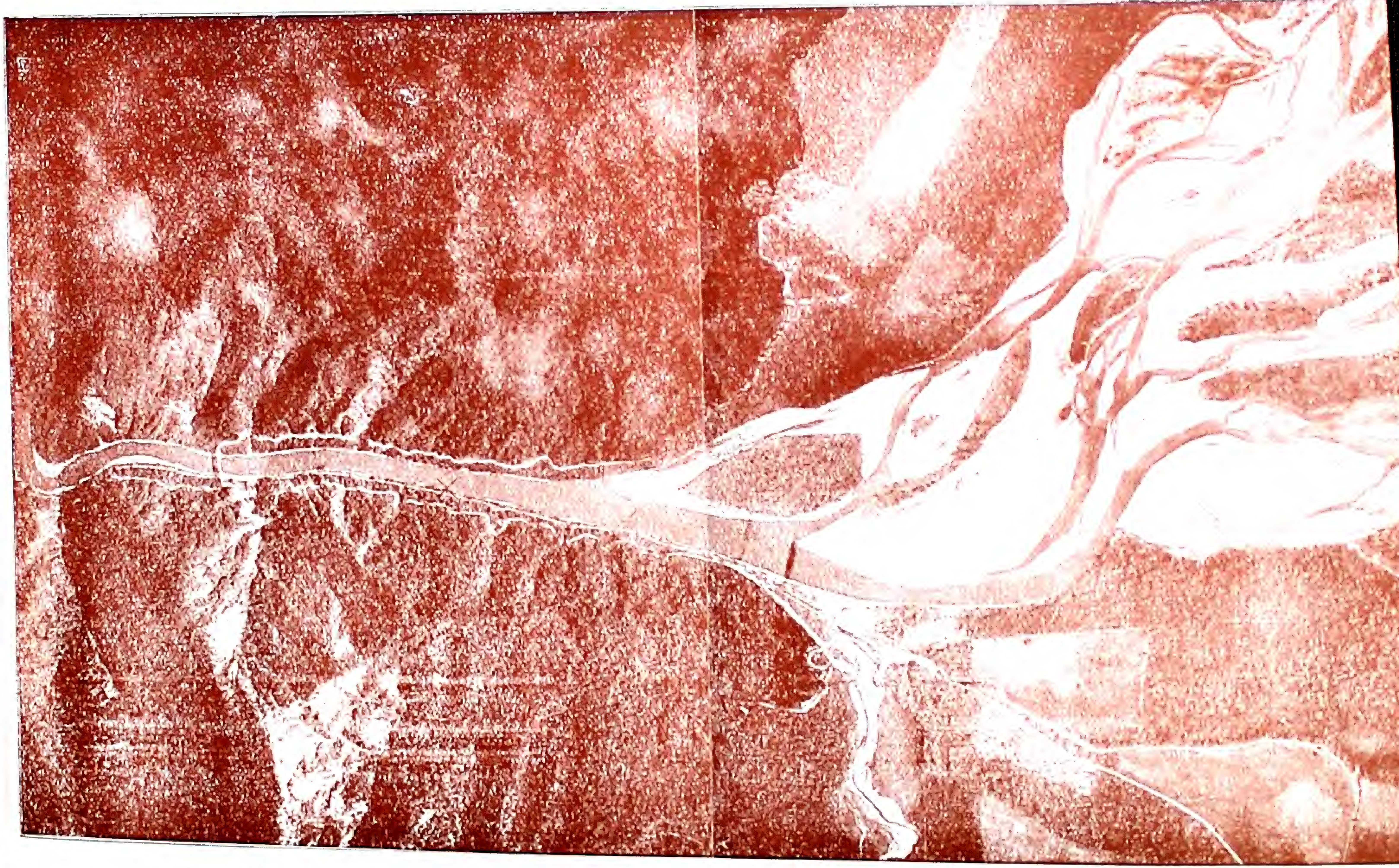


कामाख्या मन्दिर के बाहर एक मूर्ति

[पृष्ठ २४ के सम्मुख



(दोनों चित्र भारतीय वायविक सर्वे के सौजन्य से प्राप्त, कापीराइट सुरक्षित)



तिस्ता नदी की दून के विमान से लिये गये दो चित्र । बायें चित्र में सड़क के उतार-चढ़ाव और मोड़, दाहिने चित्र में नदी का मुहाना दर्शनीय है



कामाख्या के पथ पर चामुंडा की मूर्ति



कामाख्या मन्दिर, नीलाचल, गौहाटी

[पृष्ठ २५ के सम्मुख

विधवा ने पूछा, 'आचार्य जो पद्धति बता रहे हैं, उससे भिन्न अनुष्ठान मान्य होंगे या नहीं, और प्राचीन मतानुसार दीक्षित ब्राह्मण कुलीन ब्राह्मण माना जायगा या नहीं?' रघुनन्दन ने निश्शंक भाव से कहा, 'नहीं, ऐसे अनुष्ठान मान्य नहीं होंगे, और प्राचीन मतानुसार दीक्षा पानेवाला ब्राह्मण भ्रष्ट होगा।'

ब्राह्मणी ने पूछा, 'अच्छा तो ऐसे ब्राह्मण का विधान क्या मान्य होगा?'

रघुनन्दन पंडित ने बहुत से प्रमाण दे कर सिद्ध किया कि ऐसे भ्रष्ट ब्राह्मण का विधान स्पष्टतया अमान्य है।

तब सार्वभौम की विधवा तनिक मुस्करायी। बोली, 'आचार्य के माता-पिता का विवाह तो आचार्य की अनुष्ठान-पद्धति के अनुसार न हुआ होगा? उनके पिता की दीक्षा भी प्राचीन पद्धति के अनुसार ही हुई होगी? तो भ्रष्ट-कुलोत्पन्न ब्राह्मण का मत क्या मान्य समझा जायगा?'

अगले दिन जब राज-सभा में शास्त्रार्थ आरम्भ करने का समय आया, तो रघुनन्दन भट्टाचार्य कहीं न दीखे।

कोच साम्राज्य का प्रसार मणिपुर तक हुआ था—कम से कम मणिपुर, जयन्ती, त्रिपुरा आदि के राजा कोच सम्राट् को वार्षिक कर तो देते ही थे। नरनारायण ने कामाख्या के मन्दिर का पुनर्निर्माण कराया था। कुछ ही काल पीछे कालापहाड़ ने आ कर मन्दिर का ध्वंस किया, किन्तु उस के चले जाने पर (चाहे उड़ीसा के विद्रोह के कारण, चाहे नरनारायण और अहोम राज्य के नये सैन्य संग्रह से डर कर) मन्दिर फिर बनवाया गया और नरनारायण तथा चील राय ने उसकी प्रतिष्ठा की। इस आशय का एक प्रस्तर लेख भी कामाख्या के मन्दिर में है, जिसका समय शक १४८७ दिया है।

*　　　*　　　*

कूचविहार से सिलिगुड़ी का मार्ग जब 'द्वार प्रदेश' से गुजरता है तब उसकी शोभा अनूठी हो जाती है। इस अंचल में हिमालय के बारह

'द्वार' है; इन्हीं द्वारों से भोटिये, नेपाली, तिब्बती और पार्वतीय नाना जातियों के लोग भारत में आते-जाते थे--कुछ तीर्थ करने, कुछ व्यापारी, कुछ भू-लोलुप, कुछ यशाकांक्षी, कुछ लुटेरे... द्वार प्रदेश में अब भी कई स्थलों पर भोट मेले लगते हैं। चाय के बगानों की इस प्रदेश में भरमार है, ज्यों-ज्यों पथ पश्चिम को दार्जीलिङ पर्वत-मूल की ओर बढ़ता है, त्यों-त्यों चाय के नपे-छँटे, बने-सँवरे पौधों के पीछे हिमालय की नयी-नयी हिमाच्छादित चोटियों का भव्यतर रूप सामने आता-जाता है। उस दृश्य के अनिर्वचनीय सौन्दर्य को वही जान सकता है, जो बार-बार उस की अलंकार-निरपेक्ष भव्यता का अकस्मात् थप्पड़-सा खा कर लड़खड़ाया हो और फिर सँभला हो... और जिसने वैसे थपेड़े नहीं खाये, वह उस कवि हृदय में पैठ कर उसके सत्य को अपना भी नहीं सकता जिसकी अनुभूति ने वाणी पा कर कहा होगा--

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतो मा कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

द्वार प्रदेश का एक केन्द्र है अलीपुर द्वार। वहाँ से आगे आँके-बाँके रास्ते पार करते यायावर का टँडीरा तिस्ता नदी के पुल की ओर बढ़ा। इस दुर्दम नदी पर स्थायी पुल बनाने के लिए सड़क बहुत ऊँची चढ़ी है, और पुल न केवल एक दर्शनीय स्थल है वरन् इंजिनियरी विद्या का एक बड़ा करिश्मा भी है। पुल कंकरीट का है, आसपास दोनों ओर कुछ मील तक सड़क भी कंकरीट की बनायी गयी है कि वर्षा में जब-तब बह न जाय। पुल से ही एक रास्ता कलिम्पोङ् के लिए अलग हो जाता है। 'कानबाई' बड़ी सावधानी से मोड़ और चढ़ाव-उतार लाँघता हुआ पुल पार कर के दिन छिपते सिलिगुड़ी जा पहुँचा। बस्ती से दो मील पहले ही एक खुले मैदान में सैकड़ों फौजी गाड़ियाँ खड़ी थीं--यही चलन्तू कैम्प था। यहीं यायावर का 'कानबाई' भी एक तरफ करीने से जा खड़ा हुआ, सब ने उतर कर टाँगें सीधी की और फिर कुछ खाने-पीने की खोज में निकले।



द्वार प्रदेश का एक चाय बगान

यों सिलिगुड़ी से पूर्णिया को रास्ता जाता है, और वहाँ से कटिहार होकर फिर कहीं स्टीमर से गंगा पार की जा सकती है। इधर से एक नयी फ़ौजी सड़क बनी थी जो 'असम एप्रोच रोड' कहलाती थी और जो पार्श्वनाथ के पास 'ग्रांड ट्रंक रोड' में जा मिलती थी। किन्तु इस सड़क की अवस्था के बारे में जो कुछ पता चला था उसके आधार पर यही निश्चय किया गया कि सिलिगुड़ी से ट्रेन में लद कर कलकत्ते जाया जाय, और वहाँ से फिर सड़क पकड़ी जाय। अतः डे दिन की दौड़-धूप के बाद वैसी ही व्यवस्था कर ली गयी। एक फौजी मालगाड़ी तीसरी रात को छूटने वाली थी; सवेरे ही 'कानवाई' की मोटरों को रेल-ठेलों पर लाद दिया गया। पूरी मालगाड़ी केवल मोटरें ले जाने वाले ठेलों की थी––आगे आठ-दस गाड़ियाँ एम्बुलेंस की लदी थीं, फिर एक अमरीकी टोली जिसमें दो-तीन 'जीप' और आठ-दस बड़े ट्रक थे और चालकों में कुछ गोरे अमरीकी और बाकी नीग्रो। सवार होते ही गोरों ने ग्रामोफोन पर भड़भड़ाते जैज़ नाचों के तवे चढ़ा दिये थे और नीग्रो ने बैंजो टुन-टुना कर गाना और हँसना शुरू किया था। आकर्ण आँखों की बात कवियों में बहुत चलती है, असल में आकर्ण तो हँसी होती है जो नीग्रो हँसता है। बहुत ही स्वच्छ आकाश में जैसे दूत-तीज को चाँद के उजले वंक के ऊपर कभी-कभी झौंसा हुआ-सा पूरा चाँद भी दीखता है, वैसे ही हँसते नीग्रो चेहरे में दाँतों की पाँती चमकती है। इनके बाद यायावर की टोली, फिर कुछ गोरे फ़ौजी कुछ ट्रकों के साथ, एक-आध आहत टैंक, और फिर सैकड़ों छोटी-बड़ी टूटी-जुड़ी लथपथ गाड़ियाँ––जिनमें प्रायः केवल ड्राइवर ही ड्राइवर थे।

रात ग्यारह के आस-पास बहुत देर तक गड़गड़ाने और हिचकियाँ लेने के बाद गाड़ी चल पड़ी। खुले ठेले थे, गर्मी का मौसम; ट्रक की पीठ से सटा कर संकरी खाट लगा कर यायावर लेट गया और तारे देखने लगा। एंजिन के कोयले बालों में भरने लगे। गाड़ी की गति बढ़ी ता सब कपड़े इतनी ज़ोर से फड़फड़ाने लगे कि नींद असम्भव थी; और

चाल धीमी पड़ती तो मच्छर बोटियाँ नोचने लगते। हवा के कारण मसहरी नहीं लग सकती थी... दिन-भर मनाया था कि रात हो तो गाड़ी चले, स्टेशन यार्ड की भीड़ में से निकल कर सोचा जाय; रात-भर मनाते बीती कि सवेरा हो तो मच्छरों से निस्तार हो!

दिन हुआ। यायावर ने सोचा कि अब कहीं गाड़ी खड़ी होगी तो मुंह हाथ धो कर कुछ खाने की सोची जायगी, पर गाड़ी खड़ी होती तो छोटे स्टेशन पर, या बड़े स्टेशन के पास पहुँचती हुई, पर स्टेशन से एक-डेढ़ मील बाहर ही! सुराही में थोड़ा-सा पानी रखा गया था, उसी से काम चलाया गया। चाय के लिए स्टोव जलाना असम्भव था—इतनी आड़ नहीं थी, और खड़ी गाड़ी में जलाते तो पानी खौलने से पहले गाड़ी चल पड़ती! अमरीकियों की देखादेखी एंजिन से तामचीनी के मग में गर्म पानी लेकर उसी में चाय की पत्ती, और डिब्बे का दूध मिलाया; चाय में किसी चीज़ का स्वाद था तो धुंए का...

दिन भर टाँट सिकती रही। काश कि बदली घिर आती! मिन्नतों के बाद शाम हुई और बादल घिरने लगे। थोड़ी देर में वर्षा आरम्भ हो गयी। फिर कुछ देर बाद मूसल बरसने लगे। माल-पत्तर सब ट्रकों में लाद दिया गया था—आशा थी कि रात में ही कभी बैरकपुर पहुँच जायँगे जहाँ उतर कर कैम्प में रात रहना होगा। भीगते-भीगते यायावर को उस जाट की कहानी याद आयी जो गब्भिन घोड़ी को हाँकता हुआ चला जा रहा था; थक कर सोचने लगा कि कहीं एक घोड़ा होता तो क्यों उसे घोड़ी हाँकते पैदल चलना पड़ता। राह में ही घोड़ी ब्या गयी। जाट ने बछेरे को कन्धे पर लादा और फिर चला, तब लम्बी साँस ले कर खुदा की ओर मुखातिब हो कर बोला, "वाह रे सखी-सवंरा, तेरी उल्टी अकल की बलिहारी—माँगा था नीचे, दे दिया ऊपर!"

बैरकपुर पहुँचे। अर्थात् बैरकपुर के पास कहीं घुप-अँधेरे में एक साईडिंग पर गाड़ी लगा दी गयी। जहाँ भी हो, रेल से उतरना तो है ही —और जो पीछे हैं, वे क्या सामने वाले को सोचने का मौका देंगे?

जल्दी-जल्दी ट्रक उतारे गये। नीचे पक्की धरती तो है, जो होगा सो होगा, बरसने दो मूसल !

तभी एक जीप 'कानवाई' के पास आकर रुकी, और फ़ौजी पुलिस के दो सार्जेण्ट उतरे। यायावर के आने की खबर कैम्प को थी, वहाँ रहने-खाने का प्रबन्ध है और वे दोनों मार्ग दिखायेंगे—कैम्प कोई चार मील है।

तो सखी-सर्वरा कभी-कभी नीचे माँगने पर नीचे भी देता है ! अल-हम्दुलिल्लाह !

*　　　　*　　　　*

अँधेरे और वृष्टि में कोई ट्रक भटक न जाय, इस विचार से सब गाड़ियों को आगे रख कर अन्तिम गाड़ी यायावर ने अपनी रखी। अगले ड्राइवर को कहा गया कि वह जीप के पीछे हो ले, और उसे आँखों-ओट न होने दे।

टाँडा फिर चला। एक मील, दो मील, तीन मील, चार मील—अब तो कैम्प पास ही होगा। 'कानवाई' मुड़ा—क्या आ गये ? पाँच मील। फिर मोड़—यह होगा। शायद बड़े मैदान में कैम्प हो। छः मील। सात मील। आठ मील। नौ मील... दस—दसवें मील में हठात् 'कानवाई' रुक गया। सन्नाटा—केवल किरमिच पर मूसलधार वृष्टि का शब्द टपा-टप-टप, ढबाढब-ढब !

यायावर लाइन तोड़ कर आगे गया। अगली गाड़ी का ड्राइवर निश्चल बैठा था; सामने जीप नहीं थी।

"क्या हुआ ?"

"जीप गाड़ी तो खो गिया, सा' ब !"

"कैसे खो गया ? तुम्हारा ध्यान किधर था ?'

"आप बोला था गाड़ी का पीछू लाल बत्ती देखते रहने को। हम देखा लेकिन फिर वो अँधेरा में गुम हो गया। फिर हम सोचा आगे मिलेगा। लेकिन इधर रास्ता बन् है।"

अब ? अब कहीं बढ़ना तो और भटक जाना होगा। उचित यही है कि यहीं पर प्रतीक्षा की जाय। जीप स्वयं खोजने आयेगी अवश्य...

डेढ़ घंटे बाद वह आयी। गोराशाही भाषा में यों बहुत से शब्द ऐसे होते हैं जिन्हें कोशकार जानते ही नहीं; कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें वे शायद ईर्ष्यावश कोश में नहीं देते कि बाकी कोश फीका न जान पड़ने लगे ! ऐसे ही चाशनीदार बहुत से शब्द ड्राइवर पर उड़ेल कर सार्जेण्टों ने यायावर को 'कानवाई' लोटवाने को कहा, और सुझाया कि अब की यायावर स्वयं आगे रहे ताकि अनुसरण ठीक हो सके। वैसा ही किया गया। रात साढ़े बारह बजे कैम्प के भीतर घुसे। रास्ते एक-एक फुट पानी के नीचे थे; बाँसों के फ़र्श कीचड़ हो रहे थे। खाना जो रखा गया था सो न जाने क्या हुआ क्योंकि लंगर वाले तो अब सो गये थे।, एक बारक खाली पड़ी थी, उसी में कुछ बाँसों से पटे तख़्त भी थे।

खाना न सही, गीले कपड़े बदल कर पीठ तो सीधी की जाय, यायावर यह सोच ही रहा था कि सूचना मिली, 'कानवाई' की पिछली गाड़ी नहीं आयी है।

यायावर की गाड़ी फिर बाहर निकली—अकेली। जो गाड़ी रह गयी थी, उसका नेपाली ड्राइवर यथेष्ट मूर्ख था—अतः जहाँ उसने जाना होगा कि वह भटक गया, वहीं रुक तो गया होगा, पर उसके बाद भी गाड़ी के साथ ही रहेगा इसका भरोसा नहीं था। कहीं पास चिलम में साझा हो सकता हो या चाय के ही एक कुल्हड़ की आशा हो, तो वह गाड़ी छोड़ कर चल देगा। और कहीं कलवारी की गन्ध आसपास मिल गयी तो बस...

कैम्प से स्टेशन तक दो चक्कर लगे। गाड़ी का पता न मिला। तीसरे चक्कर में रास्ता छोड़ कर इधर-उधर के मोड़ों की और गलियों की खोज की गयी। यायावर लगभग निराश हो चला था कि एक अहाते के बाहर एक बड़ी गाड़ी के पीछे एक छुटका ट्रक दीखा जिसकी रेखाकृति कुछ पहचानी-सी लगी। रुक कर देखा, अनुमान ठीक था । ड्राइवर ने

हताश हो कर सो जाने का निश्चय किया था, पर जैसे लद्दू घोड़े को दूसरे घोड़े की पूंछ के अतिरिक्त और क्षितिज स्वीकार्य नहीं होता, वैसे ही 'कानवाई' ड्राइवर भी दूसरे ट्रक के पीछे ट्रक सटा कर ही चैन की सांस ले सकता है... ड्राइवर का मुंह खुला था, और खर्राटे एंजिन के चलते होने का भ्रम उपजा सकते थे...

तीन बजे थोड़ी-सी भूखी और बिल्कुल सीली हुई नींद मिली—किन्तु जो भी मिले वही बहुत; और फिर सवेरे तो कलकत्ते जाया जा सकेगा, और दो-एक मित्रों से मिल कर और चीनी भोजन कर के लौटा जा सकेगा—आगे तो अगले दिन चलना है...

* * *

यहां पर टायर को थोड़ी देर चुप हो जाना चाहिए। टायर के 'वात-प्रकृति' होने में तो सन्देह हो ही नहीं सकता—ठोस टायरों का युग तो गया—पर उसे भी जब-तब सांस लेनी ही पड़ती है! किंतु कहने का क्रम न टूटे, इस लिए कलकत्ते से आगे की यात्रा का संक्षिप्त वर्णन यायावर की डायरी से ले लिया जाय:

'प्रातः काल चल कर 'विलिंगडन ब्रिज' द्वारा हुगली पार कर के उत्तरपाड़ा और बर्धमान (बर्दवान) होते हुए आसनसोल पहुँचे। आसनसोल में एक खुले मैदान के बीच में कैम्प था, वहीं एक 'बासे' में रात काटी। सवेरे स्टेशन जा कर नाश्ता किया और चल पड़े।'

'आसनसोल से बढ़ी—११० मील। राह की एक ओर पार्श्वनाथ गिरि को छोड़ा। बढ़ी में भी मैदान में कैम्प है—यद्यपि यहां व्यवस्था और अच्छी है। कंटीन भी है, जहां से डिब्बे का सामान मिल जाता है। यहीं का ठेकेदार खाना भी खिला देता है—दाल का सूप, उबाल कर भूने हुए आलू और अंडे, चावल, तरकारी, और कुछ मीठा—प्रायः पके केले को मसल कर बनाई हुई मीठी बड़ी। सप्ताह में दो दिन खुले में सिनेमा भी दिखाया जाता है—पर हमारा दिन वह नहीं था। इस समय कैम्प भी लगभग खाली है, तम्बू में आराम है। थोड़ी-सी चाँदनी में इस तनिक-से ढाल वाले मैदान का विस्तार बड़ा अच्छा लगता है।'



काशी के घाट

[पृष्ठ [illegible] के सम्मुख



त्रिवेणी संगम पर क़िला, प्रयाग

[पृष्ठ ३२–३३ के बीच



आगरा दिल्ली पथ पर एक खंडहर की मेहराब



वृन्दावन, मानसिंह मन्दिर का पार्श्व

[पृ० ३२–३३ के बीच





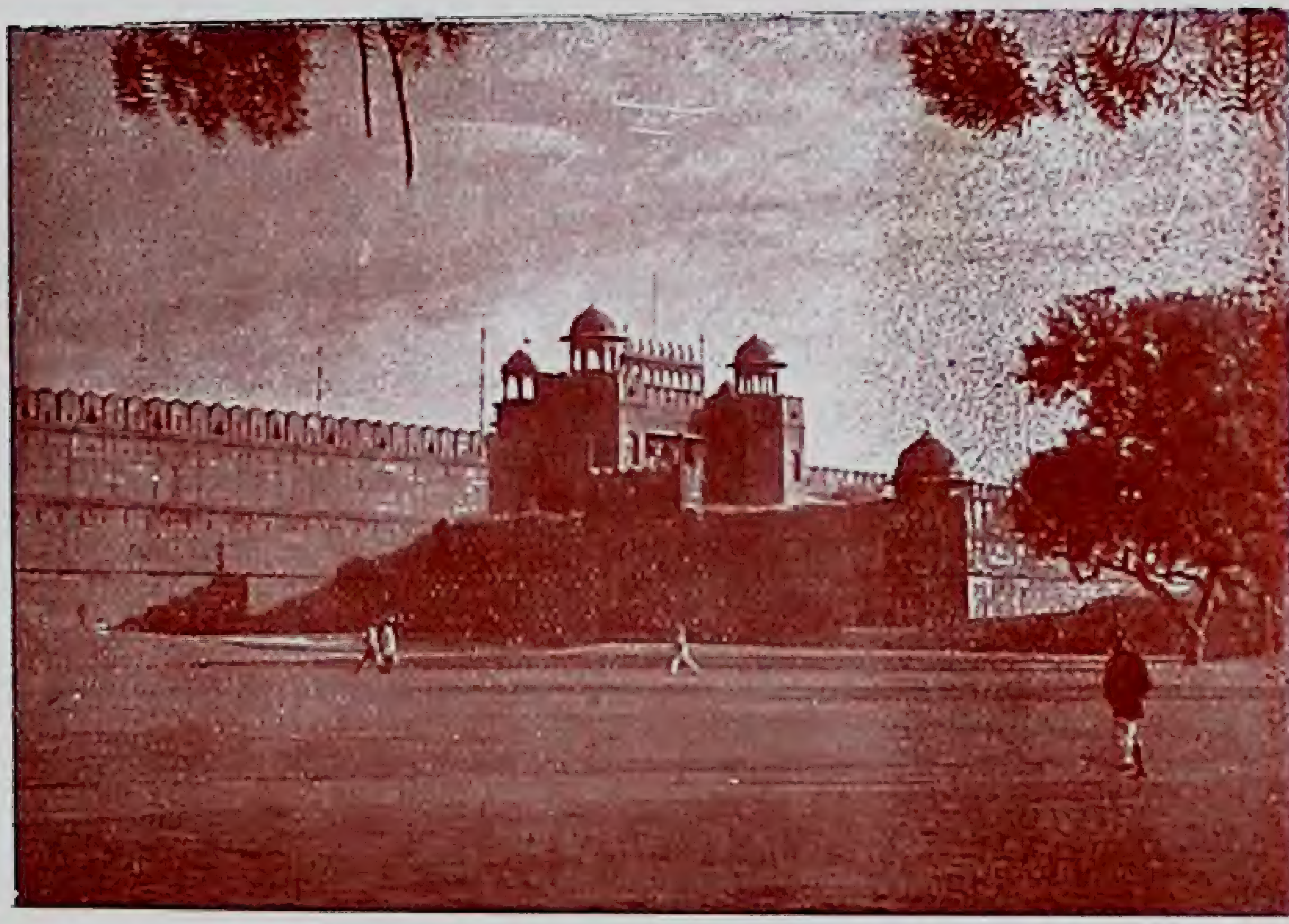
ताजमहल
नदी की ओर से तथा
उद्यान से दो दृश्य,
मुख्यद्वार का
एक खंड





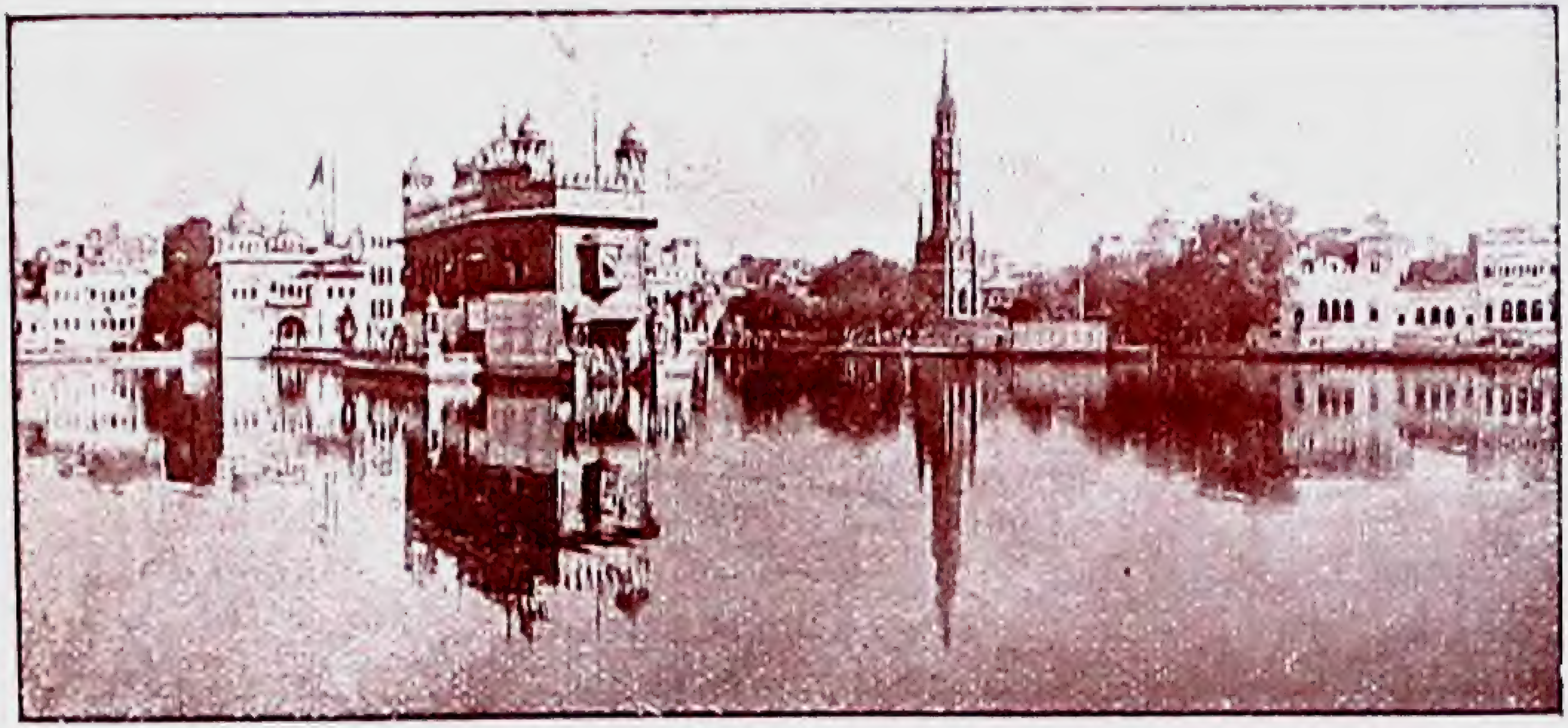
ताजमहल की एक मीनार

[पृष्ठ ३२–३३ के बीच



लाल क़िला, दिल्ली

[पृष्ठ ३२–३३ के बीच



दरबार-साहब का स्वर्ण मन्दिर, अमृतसर

'बढ़ी से बढ़े, पर गया नहीं गये; डेहरी-सोन का रेल का पुल पार कर के अलीनगर पहुँचे। अलीनगर का बँगला मुगलसराय स्टेशन से दो मील पहले पड़ता है। बनारस जाया जा सकता था, पर रास्ते में नाव का पुल पड़ता है, जिस पर न जाने ट्रक जा सकें या नहीं; न गये तो रेल के पुल से पार करना होगा और घंटों लगेंगे। फिर रात को शहर में पहुँचने का आतंक तो है ही, और कानवाई लेकर दोस्तों के यहाँ नहीं जाया जा सकता। रात में छावनी में भटकें, फिर सफ़री कैम्प का पता लगावें, फिर वहाँ जगह मिले न मिले—यह उजाड़ बँगला ही अच्छा है...'

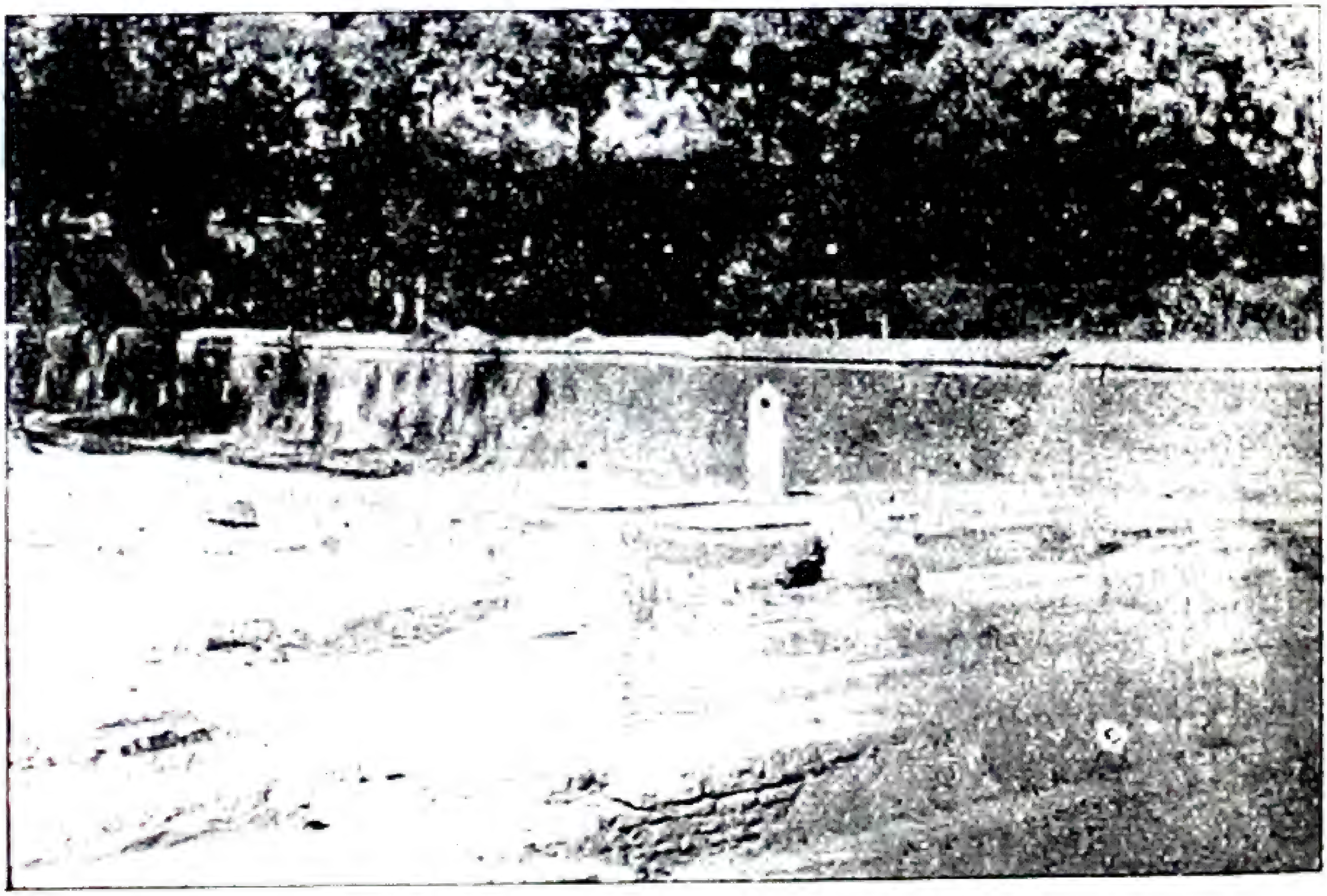
'बनारस-इलाहाबाद। इलाहाबाद में भी कानवाई ठहराने की जगह नहीं थी, और दौड़ भी छोटी रह जाती अतः पचीस-एक मील और जा कर मूरतगंज के बँगले में अड्डा जमाया। खासा बड़ा जंगल है, साफ़-सुथरा। ठहरने के लिए एक्ज़ेक्यूटिव इंजीनियर की अनुमति तो चाहिए, पर वह ठहर जाने के बाद भी ली जा सकती है—दरखास्त लिख कर चौकीदार को दे दी है!'

'कानपुर। स्टेशन पर भोजन किया। गर्मी बहुत थी, साढ़े चार बजे तक वेटिंग रूम में पड़े रहे। फिर चालीस मील और जाकर बिल्हौर में रात काटी। इस अंश में इतनी बैलगाड़ियाँ मिलीं कि गाड़ी हाँकने का सारा उत्साह ठंडा पड़ गया! बिल्हौर के छोटे से बँगले में जा रुके।'

'निश्चय था कि आगरा होते हुए जाना होगा। इस लिए नहीं कि ताज-महल के पास से निकलेंगे, इस लिए कि भारतीय सैन्य संगठन का मध्यवर्ती कैम्प आगरा है। कानवाई कलकत्ते से पूर्वी 'कमान' के अवधान में चला था, आगरे में उसे केन्द्रीय कमान के अवधान में आ कर आगे उत्तरी कमान की सीमा में जाने की सूचना देनी होगी। एतमादुद्दौला के नीचे धूल उड़ रही थी—वहाँ भीतर नहीं गये। ताजमहल के सदर फाटक से घुस कर एक बार बाहरी फाटक से ही ताज को झाँक कर ताजगंज की तरफ़ की हरियाली में बैठ कर जलपान किया, ज़रा बढ़ कर मियाँ नज़ीर

की उपेक्षित क़ब्र देखी और बचपन में बड़े उत्साह से कंठस्थ की हुई उनकी नज़्म के कुछ बन्द याद किये--

ऐसा था बांसुरी के बजैया का बालपन
वो मधुपुरी नगर के बसैया का बालपन !
ज़ाहिर में गो वो नन्द यशोदा के आप थे
वर्ना वो आपि' माइ थे वा आपि' बाप थे ।



कवि नज़ीर का मज़ार

'सुना है कि जब कवि ताजगंज से गधा हाँकते निकलते थे कि मदरसे जा कर लड़कों को पढ़ा आवें, तब रास्ते में इतनी जगह लोग उन्हें रोक-रोक कर उनसे दो-चार बन्द सुना के जाने का सफल आग्रह करते थे कि नज़ीर मियाँ को गोकुलपुरे में अपने मदरसे पहुँचते-पहुँचते साँझ हो जाती थी, और वह लड़कों को छुट्टी दे कर फिर रुकते-चलते रात तक घर

पहुंच जाते थे। एक वह दिन था, जब कविता का स्वाभाविक उद्रेक राह चलते को खींचता था और फक्कड़ कवियों की वाणी सीधे लोक-हृदय में पैठ जाती थी; एक हमारा दिन है कि ट्रक हांकते धूल उड़ाते चले जा रहे हैं, हर पोखरे में ढेले फेंकते हैं और हर झमेले में टांग अड़ाते हैं क्योंकि "जीवन की धारा के बीचोंबीच रहना कलाकार का धर्म है" किन्तु फिर भी उस लोक-हृदय के आस-पास भी नहीं फटकते जो वास्तव में जीवन का मूल स्रोत है! क्योंकि जीवन का स्रोत घटना का स्रोत नहीं है, वह चेतना का स्रोत है। हमारी कविता वाणी नहीं रही, लिखतम हो गयी है; हृदय से हृदय तक नहीं जाती वरन् एक मस्तिष्क की शिक्षा-दीक्षा के संस्कारों की नली से होकर कागद पर ढाली जाती है जहां से एक दूसरा मस्तिष्क अपने संस्कारों की नली से उसे फिर खींचता है।...



सूरदास की कुटी, रुनकुता

'केन्द्रीय कमान में हाजरी दी, और एक बार आगरे में कानवाई की सूरत देख कर कम-से-कम मथुरा जा रहने का निश्चय किया। सिकन्दरा छोड़ कर रुनकुता के पास कुछ मिनट रुके, सड़क छोड़ कर जमुना किनारे वह स्थल देखा जहाँ कभी सूरदास रहते थे और जहाँ अब उस स्थान को चिह्नित करनेवाली कुछ बजरी भर पड़ी है, जिस के पास एक और कोठरी और देवस्थान बन गया है—क्योंकि बिना मूर्त प्रतीक के श्रद्धा विकेन्द्रित हो जाती है !

'मथुरा का बँगला भरा था, अतः और आगे जाने की ठानी। कानवाई को चाय-पानी करने को कहा और लगे-हाथ वृन्दावन को छू आये। वहाँ मालूम हुआ कि तीन रुपये छः आने दे कर मन्दिर में अमुक सेर धूप-दीप का प्रबन्ध हो सकता है और बाइस रुपये दस आने दे कर मन्दिर की सीढ़ी पर नाम खुदाया जा सकता है—और स्वर्ग के इन पहले और तीसरे दर्जों के टिकटों के अलावा ड्योढ़े-दूसरे के भी मिलते हैं। इतना ही नहीं, बिना टिकट लिये अन्य मन्दिर देखे भी नहीं जा सकते। स्वर्ग की रेल में कभी बैठने की जगह मिलेगी, जिसे यही भरोसा नहीं, वह टिकट क्या खरीदता ? अतः केवल गोविन्ददेव का मन्दिर देख कर—जिस में मूर्त्ति की प्रतिष्ठा नहीं हुई किन्तु जो वास्तुकला की दृष्टि से सर्वाधिक सुन्दर है—लौट आये। कुछ आगे छाता नाम का स्थान मिला, जहाँ एक किले के नीचे छोटी बँगलिया थी—वहीं डेरा डाला।'

'नयी दिल्ली. . .सब की वह भाभी, जो कि गरीब की जोरू नहीं है ! जिसकी मुस्कान की अपेक्षा सब को है, लेकिन जिससे ठठोली करने की हिम्मत किसी को नहीं होती !

'पुरानी दिल्ली। किंग्सवे; वह स्थान जहाँ कभी सम्राट् का अभिषेक हुआ था, और अब तपेदिक का अस्पताल है—ठीक है, साम्राज्य को घुन खा चुका है, अब नया युग आता है !

'सोनीपत।'

'समलखा। नहर विभाग का बँगला। रात. . .'

दूसरे दिन कानवाई पानीपत-कुरुक्षेत्र-अम्बाला होता हुआ जालन्धर पहुँच गया। यहीं तक उसे पहुँचना था—यहाँ केन्द्र था, जहाँ से नया दायित्व ले कर यायावर को फिर आगे बढ़ना था। यहाँ शहर से चार मील दूर सुनसान के बीच एक बगिया में यायावर ने डेरा डाला। पहले दिन उसका नाम रखा 'चौमीला बाग' क्योंकि बाग के फाटक पर ही चौथे मील का पत्थर था। दो-तीन दिन बाद जब साइकल पर दो-तीन बार शहर के फेरे लगा कर समझ लिया कि बस्ती का अन्तिम चिह्न पीछे छोड़ कर जब खुले निस्सीम की सीमा पर पहुँचे तब जा कर कहीं डेरे के लक्षण दीखते हैं, तब उसका नाम बदल कर दिया गया 'द लिमिट' —सीमान्त! फिर कुछ दिन बाद, जब बगिया के चारों कोनों पर अमलतास के वृक्ष फूलों से लद कर ऐसे दीप्त हो उठे कि बगिया में चारों कोनों के अतिरिक्त कुछ मानों दीखता ही नहीं, तब यायावर ने उसका नाम फिर बदल दिया और अब रखा 'अमलतासी'...और यही नाम सब से मधुर लगा, और पीछे इतना सजीव हो आया कि अब भी उसका मन पीछे देखता है तो अमलतासी को ही याद करता है। क्यों, यह बताने के लिए जो भाषा चाहिए, वह यायावर के पास नहीं है, इस फटीचर टायर के पास तो होगी कहाँ, जो

'घूम गया जो चक्र, उसी की ओर देखता जाता हूँ...'

* * *

पश्चिम—ख़ैबर

युद्ध समाप्त हुए कुछ महीने हो चुके। लोकतन्त्रवाद की जो गाड़ी चीखती-चरमराती धीरे-धीरे गति पकड़ कर ज़रा ढंग से चलने लगी थी, वह मंज़िल पर पहुँच गयी तो ब्रेक लगा कर उसे थमाने की समस्या सामने आयी—तेज़ घूमते चक्र पर ब्रेक लगाने से स्फुलिंग निकलते हैं और उस से गाड़ी भी भक् से उड़ जा सकती है।...चलती गाड़ी में पहियों की धुरी में तेल डालना ज़रूरी है, तो ब्रेक कसने पर पहिये के हाल पर पानी डालना भी उतना ही ज़रूरी! युद्धोत्तर पुनःसंस्थापन और

पुनर्निर्माण के कार्य का महत्त्व बढ़ा, विभाग और योजनायें बनीं, शिक्षण केन्द्र खुले... दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह के एक दिन यायावर को सूचना मिली कि उसे सीमाप्रदेश का दौरा करना होगा। वह प्रदेश उपेक्षित-सा रहा है, और उसका महत्त्व बहुत है, (और वहाँ और कोई जाने को राज़ी नहीं है, खास कर इस जाड़े में!) और यायावर केन्द्र में रहने की अपेक्षा दौरे पसन्द भी करता है, (केन्द्र को इस बात का ध्यान असम में बरसात-कीचड़ के दिनों में, पंजाब में बैसाख-जेठ में, और सीमाप्रान्त के लिए पौष में ही क्यों आता रहा, यह एक केन्द्रीय रहस्य है!) इसलिए उस पर विशेष अनुग्रह कर के यह दायित्व उसे सौंपा जा रहा है। बल्कि वह युद्ध शेष होते ही सैनिक नौकरी छोड़ने का अपना दुराग्रह छोड़ दे, तो उसकी पदवृद्धि कर के उसे वहाँ का विभागीय अधिकारी भी नियुक्त किया जा सकता है।

जो हो। कारणों में जा कर क्या होगा? शान्तिकालीन सैनिक बने रहने की विडम्बना तो नहीं सहनी है, और धमनियों का यायावर रक्त सीमा-रेखाओं के दुर्दम आकर्षण से नाच-नाच उठता ही है—पश्चिमोत्तर सीमान्त भी सही, पौष-माघ ही सही:

विश्वमय हे परिवर्तन!

तुम्हारी ही विधि पर विश्वास
हमारा चिर-आश्वास!
हे अनन्त हृत्कम्प! तुम्हारा अविरत स्पन्दन
सृष्टि-शिराओं में संचारित करता जीवन;
खोल जगत के शत-शत नक्षत्रों से लोचन,
भेदन करते अन्धकार तुम जग का क्षण-क्षण,
सत्य तुम्हारी राज्य-यष्टि, सम्मुख नत त्रिभुवन,
भूप, अकिंचन,
अटल शास्ति नित करते पालन!

वही अटल शास्ति जहाँ ले चले...

निकोलिस रोयरिक का एक चित्र है जिसके कोने में एक प्रवत्स्यत् अश्वारोही मुड़ कर पीछे देख रहा है और पीछे एक छोटा कुटीर-सा घर है और उसके पीछे भव्य पहाड़... चित्र का नाम है 'याद रखना !' किन्तु जिस की दृष्टि ने पहाड़ सर्वदा आगे ही देखा है. और जिस की कल्पना ने 'घर' नाम से चित्रित किया है क्षितिज के पास कहीं बनी एक मचिया को जिसे जब-तब प्रमादी झोंके वैसे ही छिन्न-भिन्न कर डालते हैं जैसे स्कूल से भागा हुआ शरीर लड़का पेड़ों पर चढ़ कर पखेरुओं के घोंसले गिराया करता है—वह क्या रखेगा याद?

पहली जनवरी को तड़के ही 'अमलतासी' से विदा ली। प्रभात का अहेरी जब तक आलोक का फन्दा सँभाल कर मीनार को फाँसे, तब तक यायावर कर्तारपुर के गुरुद्वारे से निकल चुका था। अहेरी की ढिलाई देख कर गुरुद्वारे के स्वर्ण-कलश तनिक से मुस्करा भर दिये थे...

अमृतसर—उत्तर भारत की सब से बड़ी व्यापारी मंडी, जहाँ अब पहले के मिठबोले ताँगेवाले नहीं रहे, और ढीली पगड़ी, ढीले केस, ढीले तम्बे और बहुत ही ढीली जबानवाले सिख बस-ड्राइवरों की भरमार हो गयी है; लेकिन जहाँ की खत्रानियाँ पहले जिस सर्राटे से तिल्लई जूतियाँ चटकारती चलती थीं उसी से अब नयी-नयी काट के सैंडल चटकारती हैं। जलियाँवाला, दरबार साहब,—ये नाम हैं जिनका इतिहास भी है और गहरे संस्कार भी—लेकिन ये संस्कार घड़ी की कमानी जैसे नहीं जो हर वक्त चलाती रहे, एलार्म की कमानी जैसे हैं जो खास-खास मौक़ों पर ही शोर मचा दे...गोविन्दगढ़ किले के पास से जाते हुए यायावर ने याद किये एक और बरस के जाड़े के वे दिन जब वह 'दुर्गियाने का पूंचवासी नारायण पंडित, कमीशन एजेंट' से 'मुहम्मद बक्श बिजली का मिस्त्री' में परिणत हो कर उसी किले की छाया तले रहता था और व्यस्त था कि उसके दल की पिस्तौलों की मरम्मत का गुप्त कारखाना ठीक से स्थापित हो जाय, ताकि ब्रितानी सत्ता की आतंक की दीवार भेदी जा सके। आज भी वह भारत की आज़ादी के लिए कम उत्सुक नहीं है, पर

आज वह 'ब्रितानी भारत' की वर्दी पहने है, और आज एक 'शेर मुहम्मद' उसका 'बेरा' है और उसे 'साहब' कहता है ! **'परिवर्तित कर अगणित नूतन-दृश्य निरन्तर, अभिनय करते विश्वमंच पर तुम मायाकर !'** किन्तु क्या सचमुच मानव स्वयं कुछ नहीं है, निरा कठपुतला, क्या सचमुच ही

हमारे काम न अपने काम
नहीं हम, जो हम ज्ञात;
अरे निज छाया में उपनाम
छिपे हैं हम अपरूप;
गँवाने आये हैं अज्ञात
गँवा कर पाते स्वीय-स्वरूप !

जाड़ों का सवेरा शायद हल्की दार्शनिकता का सहायक होता है—खास कर जब कोई सामने की सीट पर अकेला मोटर हाँक रहा हो, और सड़क सीधी सपाट और वैचित्र्य-विहीन हो। नहीं तो विचार अगर और गहरे जाते, तो शायद कुछ और आगे देख सकते—जब अमृतसर में न मिठबोले ताँगेवाले होंगे, न ढीले सिख, न चटकीली जूतियाँ, न खत्रानियाँ—और जब पूंच का नारायण पंडित और बिजलीवाला मुहम्मद बक्श एक नहीं, एक दूसरे के प्राणलेवा होंगे. . .और जब लाहौर, हिन्दुस्तान के तीन गन्दे शहरों में एक, साहित्यिकों का लाहौर, सैलानियों का लाहौर, लायब्रेरियों का लाहौर, लफंगों का लाहौर, प्रचारकों का लाहौर, पियक्कड़ों का लाहौर, संस्कृतियों का संगमस्थल, हिन्दुस्तान का पैरिस लाहौर, एक अधिक झोंका हुआ आवा हो जायेगा जो एक-एक ईंट को जला कर अब बुझ गया है ! संसार,में निरर्थक अनेक चीज़ें होती हैं, लेकिन एक ओर लुढ़की हुई और मोर्चा खायी हुई चिमनीवाले, बुझे हुए और परित्यक्त आवे से अधिक बेमानी दीखनेवाली चीज़ें कम ही होती होंगी. . . .आवा मरता है तो उसकी मिट्टी की जीवनी-शक्ति भी मर जाती है—और फिर, इससे पहले कि उसमें दुबारा बीज धारण करने की शक्ति आवे, उस पर न जाने कितने युगों की धूल की परतें पड़ जाती हैं. . .



लाहौर शहर का ध्वंस

[पृ० ४० के सम्मुख



लाहौर का ध्वंस (२)

[पृ० ४८ के सम्मुख

तब लाहौर।

नहीं, यायावर, यादों के साथ मत रुको। अभी उनका और संचय करना है। पात्र भरे तभी उड़ेलना, अभी भरने दो—



लाहौर—जो था

गुजरांवाला, जहां रणजीतसिंह ने जन्म लिया और फिर पंचत्व पाया, जहां के मालटे (एक प्रकार का सन्तरा) और लोहे की तिजोरियां प्रसिद्ध हैं; वज़ीराबाद, जहां के छुरी-चाकू प्रसिद्ध हैं और जहां से स्यालकोट को लाइन जाती है जहां के क्रिकेट-टेनिस के बल्ले विख्यात हैं; और फिर गुजरात, जहां रैन-बसेरा होगा। दिन भर की दौड़ में पंचनद की तीन नदियां पार कर लीं—जालन्धर-अमृतसर के अधबीच व्यास, लाहौर

में रावी, गुजरात के निकट चनाव जो इन तीनों में—बल्कि शायद पाँचों नदियों में सब से सुन्दर है। शायद इसलिए, कि सम्भव है सतलज का ऊपरी भाग अधिक सुन्दर हो—वह यायावर का देखा हुआ नहीं। रावी और व्यास के उद्भव तक वह गया है, और रोहतंग घाटी के पार कोक-सर से उसने चन्द्रा का भी पहला आवर्त्त देखा है, और तीनों की तथा



लाहौर—जो हो गया

झेलम की प्रारम्भिक यात्रा के कई पड़ावों तक वह साथ-साथ चला है। लोक-गाथा से भी प्रतीत होता है कि चनाव ही की लहरों में लोक-हृदय ने अपनी सिहरन पहचानी है, उसी के साथ उस का सुख-दुःख, प्यार और दर्द बंधा हुआ है। चनाव के किनारे ही हीर और राँझा,

सोहनी और महीवाल का प्यार उपजा, पनपा, फूला और दुर्दैव के विवर में झर गया—लेकिन सारे अंचल पर अपनी स्मृति की छाप छोड़ कर ....अब भी जब लोग डूबती हुई सोहनी के विलाप की गाथा गा कर पढ़ते हैं, तब उसमें ऐसा दर्द गूँज उ ता है कि सोहनी का चेहरा मूर्त्त हो आवे और श्रोता उस की हाँप और द्रुतप्रवाहिनी, स्वैर-विलासिनी चन्द्रभागा का कलनाद उस में सुन पावें !

पार झनावों मझीवाले दा डेरा
सानू वी लै चल पार घड़्या
देखन नूं दो नैन तरसदे,
मेल मेरा दिलदार घड़्या !

'चनाव के पार मेरे महीवाल का डेरा है, मुझे वहाँ ले चल, घड़े ! देखने को नैन तरसते हैं, मुझे दिलदार से मिला दे, ओ घड़े !'

किन्तु बीच नदी में, छल द्वारा बदल कर रखे गये कच्चे घड़े को पानी में खुरता देख कर :

सोहनी घड़े नू आखदी
अज्ज मैंनू पार लँघा, घड़्या !
कच्ची मेरी मिट्टी कच्चा मेरा नाम
कच्चयाँ दे हुँदे आखिर कच्चे अंजाम
कच्चयाँ ते रखिए ना उम्मैद पार दी !
पक्का तैनू देख के मैं पाया हत्थ वे
अद्ध विचधारयाँ गया खुर वे
शकल वेखा दे अज्ज महीवाल दी !

'सोहनी घड़े से कहती है, आज मुझे पार पहुँचा दे ! किन्तु घड़े की मिट्टी कच्ची है, कच्चों के अंजाम कच्चे ही होते हैं; उन पर पार लगाने की उम्मीद न रखनी चाहिये। तुझे पक्का समझ कर मैंने लिया था, पर तू अधबीच में खुर गया। आज जैसे भी महीवाल की शकल दिखा दे, ओ घड़े !'

पर कहाँ ?

शौह् दरया विच नैय्या डोले,
मैं न्याणी की जाणदी साँ,
जान कुठली अज्ज लुटड़ी,
आयी मिलन दी तार घड़्या !

'प्रेम नदी में नैया डोलती है। मैं अनजान नहीं जानती थी... अभागे प्राण आज लुट चले—मिलन के क्षण आ गये, ओ घड़े...'

लालामूसा से झेलम के पथ में प्राचीन भारत का बहुत-सा इतिहास पड़ा है। पथ के बायीं ओर चिल्लियाँवाला है, जहाँ सौ वर्ष पहले सिखों ने अँग्रेजों से मोर्चा लिया था और उन्हें करारी हार दी थी। इसी युद्ध-क्षेत्र के आसपास कहीं पर उससे भी बाइस सौ बरस पहले का एक और युद्धक्षेत्र रहा होगा जिसमें सिकन्दर और पुरु का युद्ध हुआ था। चिल्लियाँ-वाला से आगे, वर्त्तमान रसूल के पास कहीं सिकन्दर ने झेलम पार की होगी।



खारियाँ में पानी से कटी हुई भूमि

खारियाँ के आसपास सड़क अद्भुत ऊबड़-खाबड़ प्रदेश में हो गुजरती है। यह सारा प्रदेश कभी धक्खड़ जातियों की क्रीड़ास्थली रहा, और भूमि की आकाररेखा देख कर ही समझा जा सकता है कि ये जातियाँ युद्धकुशल, सहनशील, और लड़ाका रही होंगी। पानी से कट-कट कर सारा प्रदेश गलियों-खड्डों से भर कर मरुभूमि हो गया। दूर पीरपंजाल श्रेणी की हिमाच्छन्न चोटियाँ चमकती हैं। आगे झेलम नदी है, जिसमें कश्मीर से बहायी हुई लकड़ी यहाँ बटोरी जाती है।

झेलम से बारह मील दूर कान्ह नदी के कगार पर रोहतास का पहाड़ी दुर्ग है। वर्त्तमान दुर्ग शेरशाह ने बनवाया था, और पठान स्थापत्य का सुन्दर नमूना है। इसी के भीतर राजा मानसिंह का महल है जो काबुल विजय (ई० १५८५) के बाद बनवाया गया था।

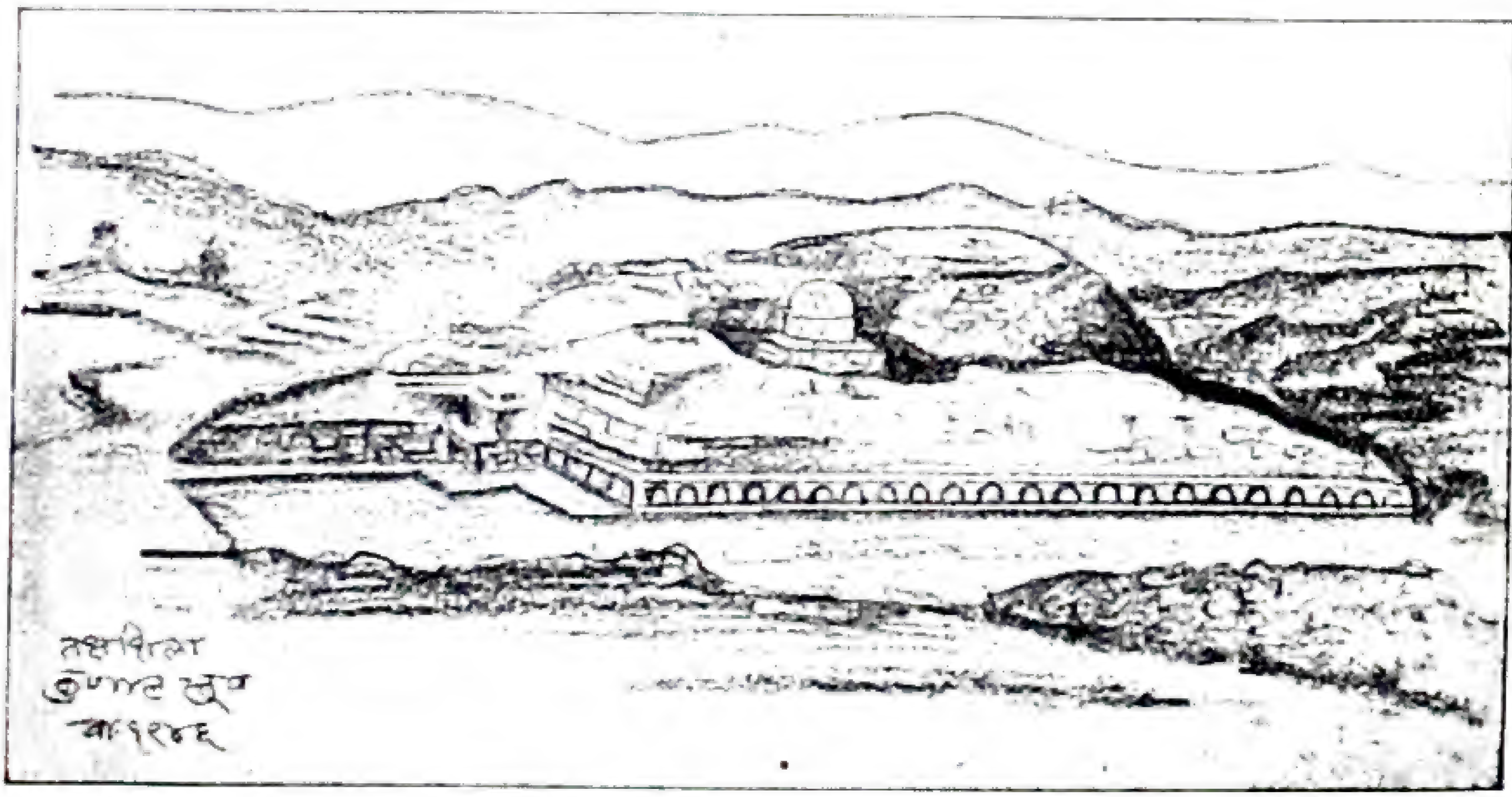
दूसरे पड़ाव को अभी देर थी, पर रावलपिंडी से बीस-एक मील आगे सड़क के किनारे एक बोर्ड लगा देख कर जब जाना कि तक्षशिला केवल अढ़ाई मील है, तब स्टियरिंग पर यायावर के हाथ की जकड़ स्वतः कड़ी हो आयी और गाड़ी दायें घूम गयी।

*　　　　*　　　　*

यायावर पुराविद् नहीं होते, न पुरातत्त्व उनके लिए स्वयं एक साध्य होता है—वह केवल दूसरों के संचित अनुभव के फल के रूप में महत्त्व रखता है। यह महत्त्व कम नहीं है, और यह कथन पुरातत्त्व की अवज्ञा तो कदापि नहीं है। तक्षशिला, नालन्दा, सारनाथ, ये नाम यायावर के शरीर में पुलक उत्पन्न करते हैं, किन्तु इस लिए नहीं कि ये प्राचीन खँडहरों के नाम हैं, वरन् इसलिए कि ये सांस्कृतिक विकास के—समष्टि के अनुभव पर आधारित जीवन की उन्नततर परिपाटियों के आविष्कार के—कीर्ति-स्तम्भ हैं। अन्ततोगत्वा बात एक ही है, किन्तु एक नहीं भी है। भेद आत्यन्तिक वस्तु का नहीं है, केवल दृष्टिकोण का है, वस्तु से व्यक्ति के सम्बन्ध का भेद है।

अस्तु ! तक्षशिला के इस वर्णन की प्रामाणिकता का कोई दावा नहीं है। न उसे प्रामाणिक बनाने के लिए विशेष यत्न प्रयोजनीय है, क्योंकि प्रामाणिकता के खोजी तक्षशिला का परिचय इस भटक-पुराण में पढ़ने नहीं आवेंगे।

तक्षशिला के खंडहरों को अच्छी तरह देखने के लिए चार-पांच दिन का अवकाश तो चाहिए ही. उतना समय ले कर कम देखने वाले वहाँ जाते हैं. और बहुत से तो केवल संग्रहालय में सुरक्षित प्राचीन स्वर्णाभरण देख कर ही तृप्त हो कर चल देते हैं। संग्रहालय तक्षशिला की तीन आबादियों में से सब से प्राचीन बस्ती के खंडहर भीड़ टीले के पास है।



कुणाल स्तूप तक्षशिला

तक्षशिला की दूसरी बसाई के अवशेष तामड़ा नाले के पार सिरकाप स्थान में है. और तीसरी के कुछ उत्तर-पूर्व को सिरसुख में। पहली बस्ती ई० पू० ५००–६०० की होगी, दूसरी कदाचित् बाख्त्रियों द्वारा निर्मित हुई थी और पीछे शकों के हाथ पड़ी। तीसरी नगरी कुशाण

सम्राट कनिष्क की बसायी हुई है और कई सौ वर्षों तक आबाद रही। य्वान च्वाङ जिस तक्षशिला में आया वह यही थी, और उस ने जिन स्थलों का वर्णन किया है उन की दूरी के संकेत यहीं से हैं।

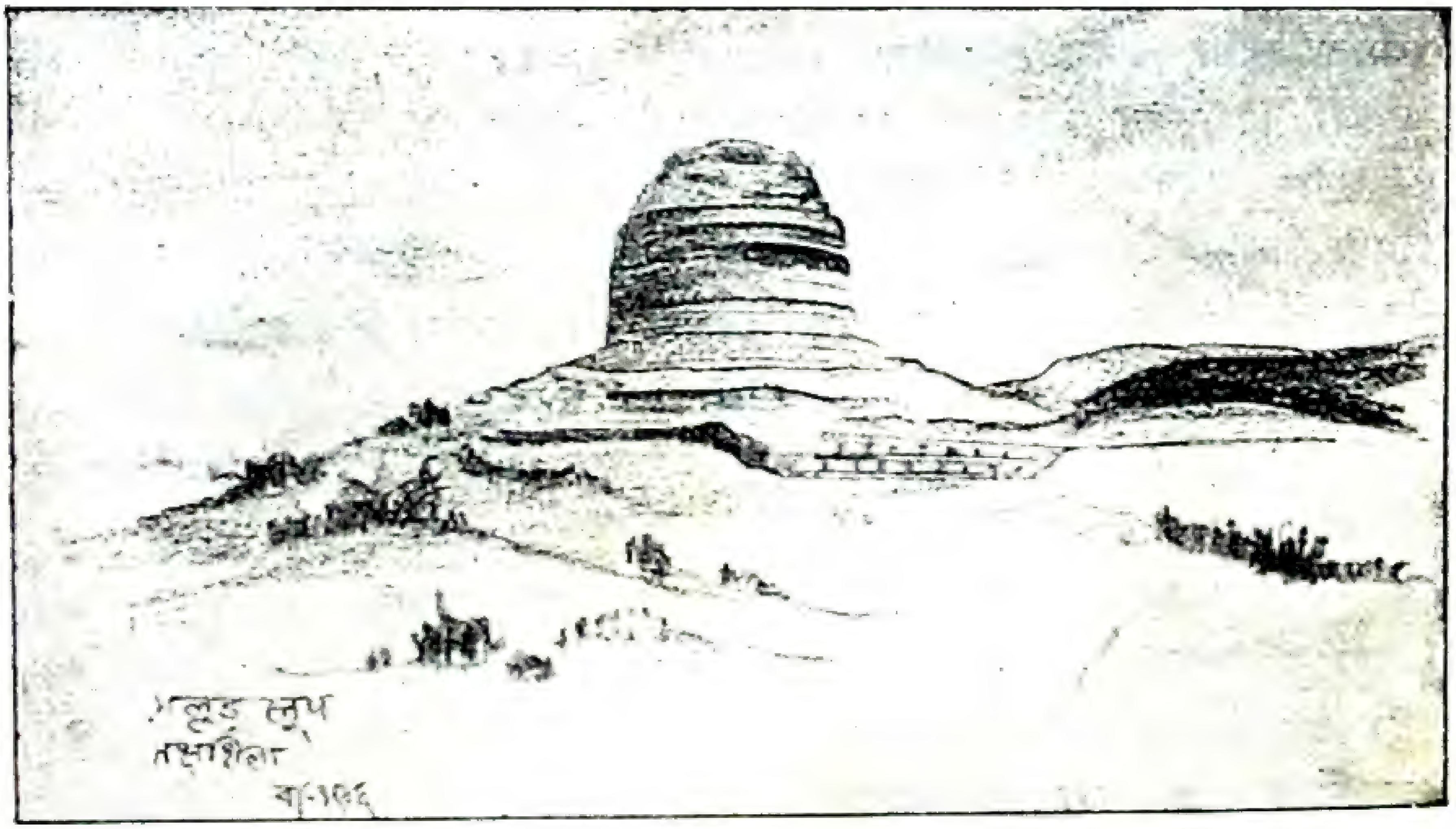
धर्मराजिक स्तूप ('चीर टोपा' क्योंकि पहली खुदाइयों में उसे चीर दिया गया था) कदाचित् अशोक के समय निर्मित हुआ था, और पीछे उसके आसपास अन्य स्तूप और विहारों का निर्माण हुआ। विभिन्न खंड अलग-अलग समय पर बने, और सब की निर्माण शैली अलग-अलग है। टोपे के उत्तरी भाग में बुद्ध की एक विराट्-मूर्ति के केवल पैर अवशिष्ट हैं जो पूरी लगभग बीस हाथ की रही होगी।

कुणाल स्तूप उसी स्थान पर बनाया गया बताया जाता है, जहाँ विमाता तिष्यरक्षिता के दुश्चक्र से कुणाल की आँखें फोड़ दी गयी थीं। दैव की विडम्बना है कि इसी स्थान से समूची नगरी का और नीचे की उपत्यका और नदी का पूरा दृश्य दीखता है! कदाचित् यहीं पर से तक्षशिला का शासक युवराज कुणाल अपने नगर और प्रदेश का प्रेक्षण किया करता होगा, और यहीं पर सम्राट् का मुद्रांकित, साम्राज्ञी का आदेश पा कर उस ने अन्तिम बार आँख भर कर उस सारे रूपान्तर को देख लिया होगा जो तत्कालीन पौर्वात्य कृष्टि का कनक-फल, मानवार्जित सकल ज्ञान के अम्बुधि की कौस्तुभ-मणि था, और फिर आँखें मीच ली होंगी कि साम्राज्ञी की वासना का अन्धकार उन्हें छा ले, ग्रस ले...

कुणाल स्तूप से लगभग पाँच मील भल्लड़ स्तूप है, जिस के साथ में विहार में सौत्रान्तिक कुमारलब्ध ने वास किया था।

सिरकाप के खँडहर कई युगों के अवशेष हैं जिनका ब्यौरा अन्यत्र मिल सकता है। इसी के उत्तर को जंडियाल में एक यवन मन्दिर के अवशेष दर्शनीय हैं जो शायद शक सूर्योपासकों ने बनाया होगा।

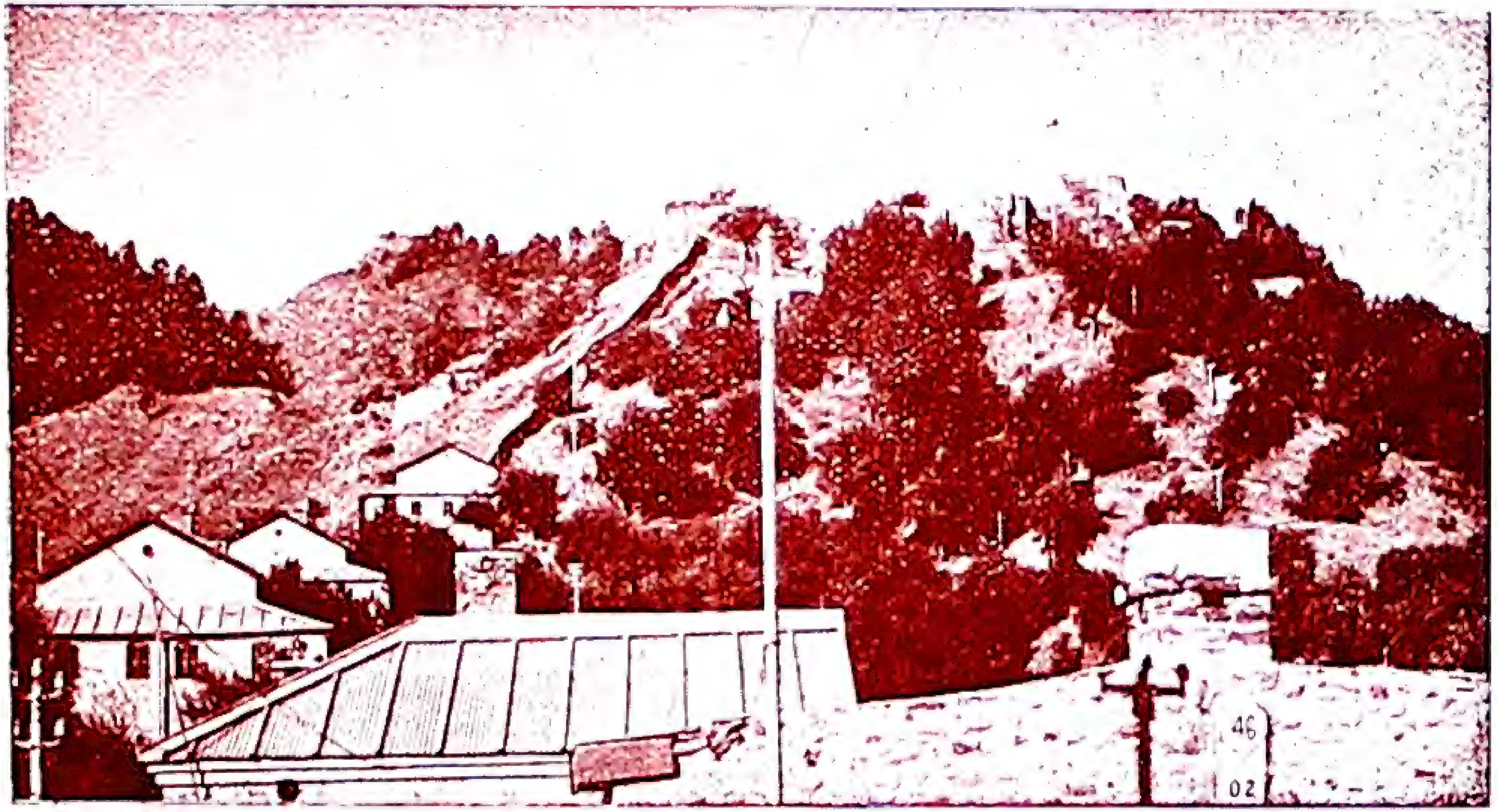
जौलियाँ और मोहरा मुराद् के बौद्ध विहार और स्तूप उत्तरी भारत के अन्य बौद्ध अवशेषों की अपेक्षा कहीं अच्छी अवस्था में हैं; और दर्शनीय हैं।



भल्लड़ स्तूप, तक्षशिला

किन्तु साँझ हो आयी थी, और हिसाब से अभी साठ-एक मील और आगे जाना चाहिए था। यायावर ने फिर बड़ी सड़क पकड़ी। किन्तु जाड़ा बढ़ने लगा, और कुहरा भी घना हो आया, तब दस ही मील जा कर हसन अब्दाल के बँगले में डेरा जमा दिया। यहाँ से ग्रांड ट्रंक सड़क सीधी अटक-पेशावर चली जाती है, और एक सड़क मुड़ कर अबटाबाद होकर कश्मीर जाती है। हसन अब्दाल में ही सिखों का तीर्थस्थान 'पंजा साहब' है, जो मुसलमानों के अनुसार 'बाबा वली का चश्मा' है। सिख गाथा का एक रूप यह है कि गुरु नानक ने वहाँ पर बाबा वली नामक मुस्लिम पीर से पानी माँगा तो बाबा वली ने उन्हें डाँट दिया और उन पर पत्थर फेंका। गुरु नानक ने उस पत्थर को हाथ पर लिया और उन के स्पर्श से उसी में पानी का सोता फूट निकला। कुंड के एक छोर पर एक पत्थर पर पंजे का निशान अब भी दिखाया जाता है और इसी से 'पंजा साहब' नाम पड़ा है। तथ्य जो भी रहा हो, कुंड विभिन्न समयों

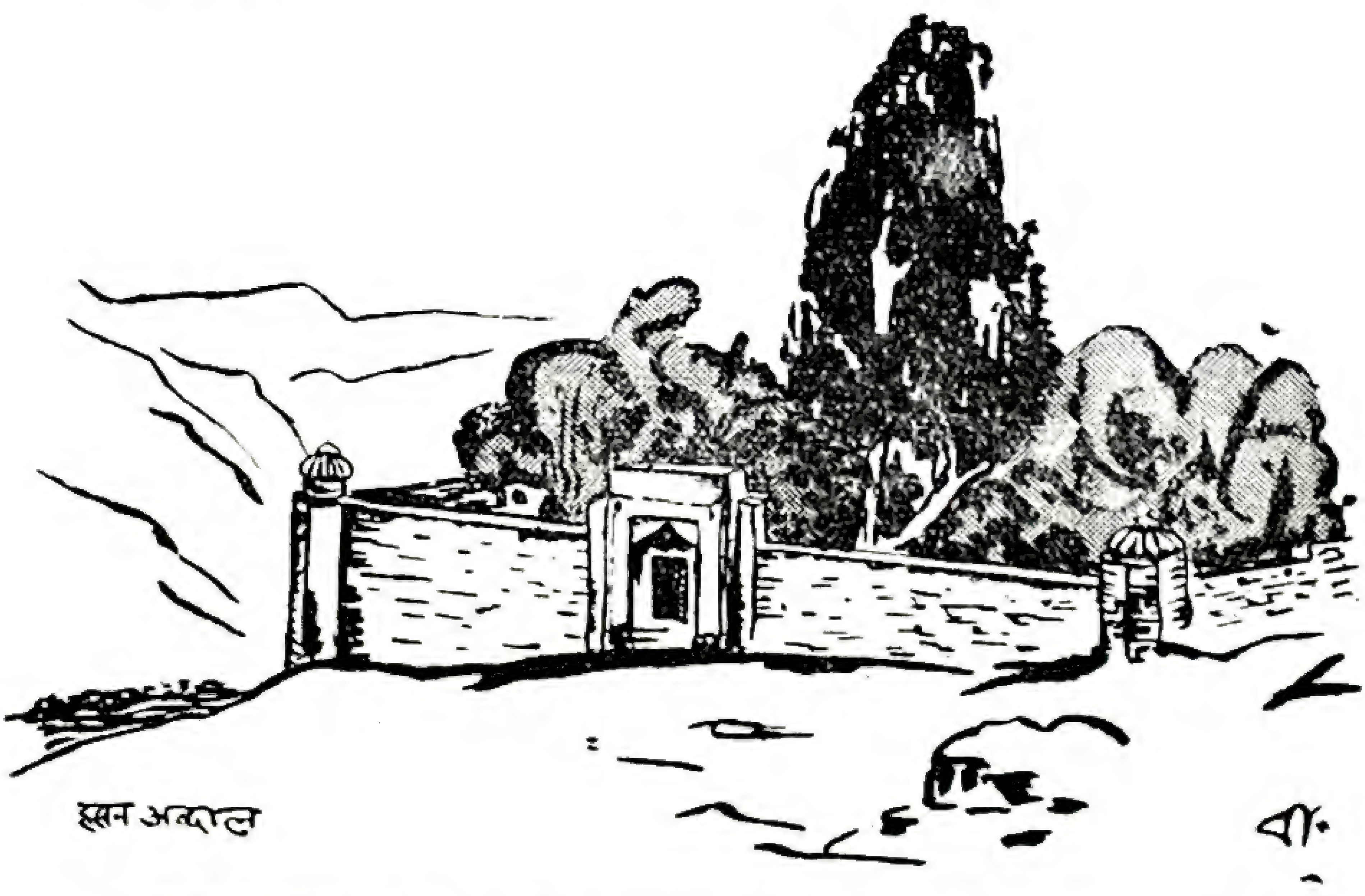




मल्कंड दुर्ग

[पृष्ठ ८० के सम्मुख

पर बौद्धों, हिन्दुओं, मुसलमानों और सिक्खों के अधिकार में रहा, और प्रत्येक ने उसे तीर्थ का गौरव दिया। सूखे प्रदेश में कोई भी सोता पुण्यस्रोत होता है—तीर्थ जो जल का पर्याय है वह क्या यों ही? और जहाँ संस्कृतियों का संघर्ष अथवा संगम हुआ है वहाँ स्थानिक प्रसिद्धियों का भी परिपाक बराबर होता रहा है; नहीं तो क्या अटक के नीचे सिन्धु नद के पार व्याकरणकार शालातुरीय पाणिनि के गाँव के लोग आज के दर्शक को इतने गौरव के साथ बतला सकते कि उनका गाँव 'पीर शालातुरा' का गाँव है!



हसन अब्दाल

हसन अब्दाल के पास ही पहाड़ पर 'वाह' नाम का स्थान है, जिस का वर्तमान गौरव उस के सिमेंट के कारखाने से है, किन्तु जिस का नामकरण अकबर ने अजाने ही कर दिया था—उस स्थान का सौन्दर्य देख कर वह कह उठा था, 'वाह! वाह!' अकबर का बनवाया हुआ बाग इस घटना का स्मारक है। अब यह टिवाणा खानदान के सरदारों की सम्पत्ति है।

जितना कि—गेंदे का फूल मर्दाना! यूनानी न जाने क्यों चूक गये—वैसी प्रकृति-प्रेमी और प्रतीक-स्रष्टा जाति से यह भूल न होनी चाहिए थी! यद्यपि यह भी है कि नारसिसस जैसा अपने ही रूप पर मोहित होनेवाला युवक बहुत ही ज़नाना मर्द रहा होगा।

सारा पहाड़ नरगिसों से छाया हुआ था। तीसरे पहर पहाड़ के शिखर पर चढ़ते समय भी राह में अनेक स्थलों पर नरगिस मिले। शिखर चीड़ वृक्षों से छाया हुआ था, किन्तु ऊपर पहुँच कर वहाँ से पामीर और मनकियाल की हिममंडित गिरिशृंखलाएँ दीखीं। सामने ही काबुल की छावनी थी, जिसके नीचे कई गुरुद्वारे और ज़ियारतें बिखरी हुई हैं। एबटाबाद से ही एक रास्ता मानसेहरा को जाता है, जो मुजफ्फ़राबाद-दुमेल की सड़क पर पहला ठिकाना है। मानसेहरा में तब भी कुछ उपद्रव की खिचड़ी पक रही थी, यह यायावर को पता चल गया था, पर दो ही वर्ष बाद वह इतना विकट रूप लेगी यह अनुमान वह न कर सका था। मानसेहरा से ही कबाइलियों के आक्रमण मुजफ्फ़राबाद और वहाँ से दुमेल में किशनगंगा-झेलम को पार कर के उड़ी-बारामूला पहुँचे। मुजफ्फ़राबाद की शान्त स्वतःसम्पूर्ण बस्ती, जिस के लोग तीसरे पहर नीचे उतर कर हठीली किशनगंगा में नहाते थे—इस पार सहज गम्भीर पुरुष, जो नहा कर किसी पत्थर पर बैठ कर बंसरी बजाया करते थे; उस पार स्त्रियाँ जो हाथ से पानी उछाल कर किलकारियाँ मारती थीं और फिर चट्टानों की ओर अपने काले पैरहनों की ओट बैठ कर धूप में देह और बाल सुखाया करती थीं—मुजफ्फ़राबाद जो आज जल कर राख हो चुका है, जिसके बंसरी वाले मारे गये हैं और किलकारने वालियाँ लुट गयी हैं...तब यायावर को यह सब नहीं दीखा, यद्यपि एबटाबाद की सड़कों पर लारियाँ भर-भर जाते हुए सब्ज़ कुरती वाले दलों के 'ले के रहेंगे पाकिस्तान' 'लड़ के लेंगे पाकिस्तान', और जवाब में सिख जलसों के 'जो बोले सो निहाल—सतसिरी अकाल' आदि नारों से इतना तो अनुमान

हुआ था कि इस प्रदेश में उपद्रव के पौधे पनप रहे हैं और फल देंगे... यायावर ने तभी अपनी डायरी में लिखा भी था कि 'मेरी कल्पना देखती है, इन नरगिसों को हज़ारों पैर रौंद रहे हैं, बेदर्द और बेरहम पैर—और फूलों की डाँठों के टूटने की आवाज़ वातावरण में नारों की गूंज में डूब जाती है...सिनेमा का प्रतीक-चित्र सा सामने आता है—बर्फ़ में झूमते नरगिस, रौंदते हुए पैर, केवल पैर...'

हरिपुर हज़ारा हो कर फिर हसन अब्दाल में ग्रांड ट्रंक सड़क पकड़ी। हरिपुर की कीर्ति वहाँ का जेल है—सीमाप्रांत का सब से बड़ा सेंट्रल जेल। यों यहाँ मालटा सन्तरे के बगीचे भी बहुत हैं। यहाँ के लोगों ने यायावर का नाम ठीक न समझ कर उसे 'वाहिद हुसैन' कहना आरम्भ किया, और यहाँ से आगे सीमान्त की यात्रा में वह प्रायः ही 'कप्तान वाहिद हुसैन' के नाम से जाना जाता रहा!

* * *

अटक का भव्य दुर्ग सिन्धु के बायें तट पर बना है, और कुछ आगे ही सिन्धु का पुल है। पुल ऐसे स्थल पर बना है जहाँ दोनों ओर पहाड़ की बाँहियाँ बढ़ आने से सिन्धु का पाट बहुत सँकरा हो गया है; पुल के नीचे नद का प्रवाह तीव्र है और जब पानी चढ़ता है तो साठ हाथ तक चढ़ आता है—पुल साधारण तल से पैंसठ हाथ की ऊँचाई पर बना है। पुल से नीचे नद का पाट दूर तक सँकरा चला जाता है, और चट्टानी भुजाओं से घिरी हुई नद की शुभ्र-नील हलचल दर्शक की आँखों को जैसे मोह लेती है। अटक से नौका द्वारा खुशहालगढ़ तक जाया जा सकता है जो कैम्बेलपुर-कोहाट के बीच पड़ता है। यह 'पनघाटी' ('गॉर्ज' के लिए यह शब्द गढ़ लेना क्षम्य समझा जाय) अपने ढंग की अनूठी है और नमदा के भेड़ाघाट से कम भव्य नहीं है, यद्यपि इस का सौन्दर्य बिल्कुल दूसरे प्रकार का है।

अटक दुर्ग का दृश्य बहुत ही प्रभावोत्पादक है, यद्यपि विमान और अणु बम के इस युग में उसका सैनिक महत्व नगण्य हो गया है। पश्चिम

से जहाँ काबुल नदी सिन्धु में आ कर मिलती है, उसके नीचे ही दुर्ग स्थित है, और दुर्ग के उत्तरी भाग से न केवल सिन्धु की दून का मीलों तक का दृश्य दीखता है वरन् काबुल नदी का भी। दोनों दूनों की दूरी जिस क्षितिज में जा मिटती है, उस पर हिमशृंगों की झालर-सी टँकी दीखती है—ये सफ़ेद कोह और पामीर शृंखला की चोटियाँ हैं ।

किले के नीचे ही घाट है, जहाँ से नावें पार जाती हैं। इस घाट के ऊपर ही एक पत्थर के पुराने पुल के स्तम्भ दीखते हैं, ये काबुल नदी के संगम के निकट ही हैं जहाँ कि सिन्धु का पाट उथला और चौड़ा है। इस पुल का इतिहास यायावर को नहीं मालूम; वर्त्तमान किला अकबर का बनवाया हुआ है और उसी ने इस के नीचे का घाट चलवाया था ।

अटक से सिन्धु पार कर के खैराबाद स्टेशन पड़ता है जहाँ से पीछे दुर्ग और पुल का पूरा दृश्य दीखता है। यहाँ से आगे सड़क काबुल नदी के साथ-साथ चलती है। अठारह-बीस मील जा कर नौशेरा पड़ता है। यहाँ पर सिख रेजिमेंट का मेस दर्शनीय था । आसपास के प्रदेश में पायी गयी गान्धार मूर्तियों, अर्धचित्रों, मसाले की बुद्ध और बोधिसत्व-मूर्तियों के भग्नावशेषों को यहाँ बड़े सुन्दर ढंग से सजा कर प्रदर्शित किया गया था; और भीतर तिब्बती रेशमी टंकाओं का संग्रह भी बहुत अच्छा था। नौशेरा की दूसरी उल्लेखनीय वस्तु है वहाँ का विशिष्ट कबाब जो 'चपली कबाब' कहलाता है—वह पेशावरी चप्पल के तले जैसा फैला हुआ होता है। पनहिया सत्कार के लिए दो जूते देने का मुहावरा है, चपली कबाब एक ही पूजा के लिए यथेष्ट होता है ।

* * *

नौशेरा से दूसरा विकर्षण—ऐसे धुआँधार पंडित क्या अब नहीं रहे जो विकर्षण और अँग्रेजी एक्सकर्शन की व्युत्पत्ति एक ही धातु से कर दें?—होती मर्दान और तख़्त-बहाई का रहा । काबुल नदी पार कर के रिसालपुर छावनी के पास से सड़क जाती है । रिसालपुर में—जैसा कि नाम से स्पष्ट है—रिसाला रहता है और एक हवाई अड्डा भी है ।

मर्दान में भी 'गाइड्स कैवेलरी' का मेस गान्धार शिल्प का संग्रहालय ही था। अधिकांश सामग्री मलकंड और स्वात की दून की खुदाइयों में प्राप्त हुई थी और फ़ूशे ने अपने ग्रंथ 'सूर ला ोन्तियेर एन्द+अफ़गान' (भारतीय अफ़गान सीमान्त पर) में उस का वर्णन किया है; शेष सामग्री रिसाले के अफ़सरों द्वारा जब-तब एकत्र की जाती रही। मर्दान से उत्तर-पूर्व शाहबाजगढ़ी में अशोक का प्रसिद्ध प्रस्तर लेख है जो खरोष्टी लिपि में लिखा है।

मर्दान से आठ मील दूर तख्त-बहाई और शहरे-बहलोल के बौद्ध अवशेष हैं। किन्तु उन की यात्रा का वर्णन करने से पहले थोड़ी भूमिका आवश्यक है।

यायावर का नियम था कि जहाँ-जहाँ जाता वहाँ के प्रमुख व्यक्तियों से मिल लेता, और कभी-कभी इन्हीं के साथ जहाँ-तहाँ घूमने का प्रसंग भी निकल ही आता। इसी तरह नौशेरा से एक रूसी कलाकार उस के साथ हो लिये थे। उन्हें सुविधा के लिए रूसी कलाकार कह लिया जाय; अन्यथा इस उपाधि के दोनों पदों की व्याख्या होनी चाहिए। ये सज्जन जन्मना पोलैंड-वासी व्हाइट रशियन रहे; रूसी क्रान्ति के समय इन के पिता भाग कर चीन चले गये थे और उत्तरी चीन में बस गये थे। लड़का एंटन चीन में घर से असन्तुष्ट हो कर पहले हाङकाङ और फिर शाङहाई भाग गया था, और फिर उपजीविका के लिए शाङहाई की फ़ान्सीसी पुलिस में भरती हो गया था। इस प्रकार उस ने फ़ान्सीसी नागरिकता प्राप्त कर ली थी। वहीं संगीत में रुचि के कारण वह पुलिस बैंड का निर्देशक बना था, और पीछे नौकरी छोड़ कर रंग-मंच का संगीत-निर्देशक और अभिनेता भी हो गया था। थोड़ी-बहुत चित्रकारी भी जानता था, अतः पर्दे आदि रँगने का काम भी कर लेता था। दूसरे महायुद्ध के समय भारत आ कर वह भारतीय नृत्य-कला और लोक-नाट्य का अध्ययन कर रहा था। यह अध्ययन उसे नौशेरा कैसे ले गया, यह प्रश्न व्यर्थ है; उपर्युक्त वर्णन से समझ लेना चाहिए कि उसके भी सिर-पैर में चक्कर था।

तो मर्दान के मेल-मिलाप में दोनों साथ-साथ लोगों से मिलते थे। प्रभावोत्पादकता के लिए कभी दूसरों के सामने 'अहो रूपं, अहो ध्वनिः' भी कर लेते थे, और कभी-कभी अकेले किसी से मिल कर दूसरे की बड़ाई कर आते थे—एंटन की हिन्दी में (जो उसने कलकत्ते में बंगालियों से सीखी थी!) 'ये साव चालता हाय—ऐसा क्यूं नेइ करेगा?' निदान होती मर्दान के नवाब से एंटन मिलने गया और यायावर की तथा अपनी तरफ़ से उन्हें चाय पर निमन्त्रित कर आया। नवाब सहब मर्दान के सर्किट हाउस में पधारे तो यायावरद्वय देखते रह गये—उनके साथ आठ अंगरक्षक राइफ़लें लिये हुए आये और जब नवाब साहब को कुर्सी दी गयी तो पीछे कतार बाँध कर खड़े हो गये। भेंट यों भी औपचारिक थी; इस असाधारण वातावरण में वार्तालाप कुछ बहुत हार्दिक नहीं हुआ, यह समझा ही जा सकता है। फिर भी उसे चलाये रहने के लिए तख्त-बहाई



की बात छेड़ी गयी; जिस पर नवाब साहब ने पथ-प्रदर्शक भेज देने का वचन दिया। इस से आगे भी वह व्यवस्था करने का आश्वासन देते थे, पर उनके अपने अमले को देख कर अनुमान किया जा सकता था कि वह

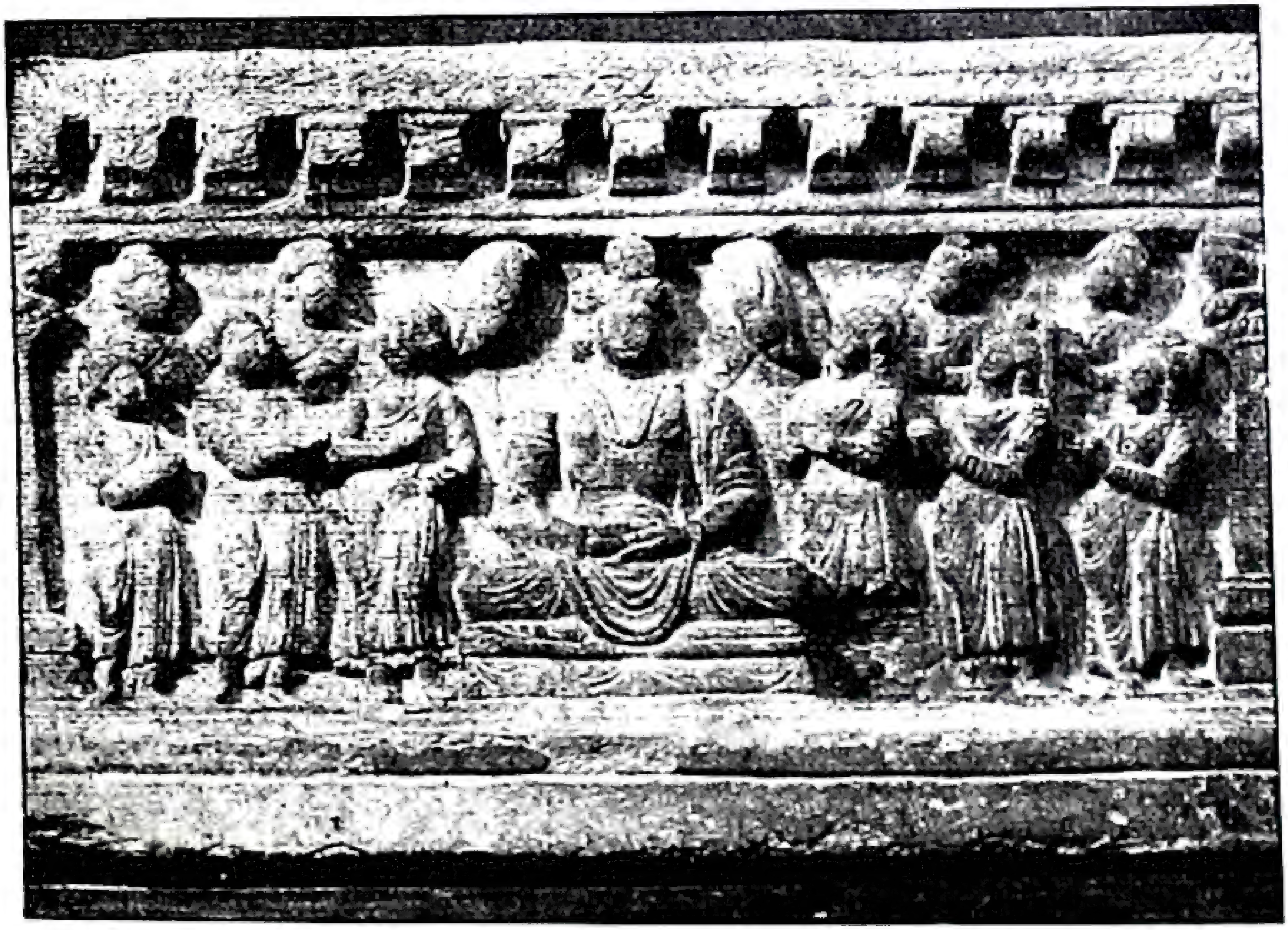
व्यवस्था कैसी होगी, अतः उसे धन्यवाद देकर टाल दिया गया। अन्त में नवाब साहब ने दोनों को उपहार-स्वरूप एक-एक छोटा स्वाती कम्बल दिया। इस अप्रत्याशित कृपा का प्रतिदान देने के लिए उपस्थित कुछ नहीं था, अतः यायावर ने अपने सामान में महीनों से सँभाल कर रखी हुई पुर्तगाली ब्रांडी की बोतल और उस की देखा-देखी एंटन ने घर की याद को मीठा बनाने के लिए छः साल से छिपायी हुई रूसी वोद्का की बोतल उन्हें भेंट कर दी। नवाब साहब स्पष्टतया इस प्रति-भेंट से तुष्ट हुए दीखे; दूसरे दिन प्रातःकाल एक नवयुवक एक तश्त में कुछ खाद्य सामग्री लाया और मालूम हुआ कि वह मार्ग-दर्शक है।

रविवार था, छुट्टी थी। गाड़ी न ले जा कर रेल से ही जाने का निश्चय था। जाने और आनेवाली गाड़ी में लगभग तीन घंटे का अन्तर था, मार्गदर्शक ने कहा कि अवशेषों को देखने के लिए यह पर्याप्त है।

तख्त-बहाई एक पहाड़ी पर है जिस की रीढ़ का छोर स्टेशन से आध मील दूर ही मिल जाता है। पहाड़ी लगभग ८०० फुट ऊँची है; बिल्कुल सूखी और नंगी; ढंग का रास्ता पकड़ने के लिए दो मील सड़क से जा कर पहाड़ी के मध्य तक पहुँचते हैं और वहाँ से चढ़ाई आरम्भ करते हैं। किन्तु मार्गदर्शक छोटे रास्ते से ले जा रहा था न, उसने रीढ़ का छोर पकड़ा और उसी के ऊपरी किनारे-किनारे चढ़ चला। पीछे यायावर और उसके पीछे एंटन—और यायावर और एंटन के बीच का फ़ासला बढ़ता चला... पहली चढ़ाई के बाद थोड़ी देर के लिए एक समतल-सी जगह मिली—जैसी बाख्त्री ऊँट के दो कूबों के बीच होती है!—तो एंटन ने हाँफते हुए मार्ग-दर्शक से कहा, "ब-हूत आच्छा रास्ता है यह, क्यूँ ? चढ़ने का मजा आ गिया !" और यायावर से अंग्रेजी में कहा, "अच्छा शार्टकट दिखाया है, पाजी कहीं का !" यायावर ने शरारत से भर कर युवा से कहा, "साहब इस रास्ते से बहुत खुश हैं, और भी छोटा कोई रास्ता है ? खतरे की फिक्र नहीं है साहब को।"

युवक खिल गया। खतरे की फ़िक्र हो भी तो भी पठान गड़रिये की पगडंडी पकड़ता है, अब तो वह बकरी की लीक भी छोड़ेगा। वह सचमुच पहाड़ी छाग की तरह सधे हुए पैरों से फुर्ती से उछलता हुआ ऊपर चढ़ने लगा।

एंटन ने रुक कर नीचे से पुकारा, "हे, हे, हामरा पास में रस्सी नेइ है, हाम कैसे आयेगा?"



बुद्ध : गान्धार अर्धचित्र
(मलकंड से प्राप्त)

सचमुच ऐसी परिस्थिति आ गयी थी कि पत्थरों पर चिपट कर दरारों में हाथों-पैरों के पंजे गड़ा कर चढ़ना पड़े—मार्ग-दर्शक भी जहाँ-तहाँ हाथों से काम लेता हुआ चढ़ रहा था। दो-तीन बार यायावर ने ऊपर

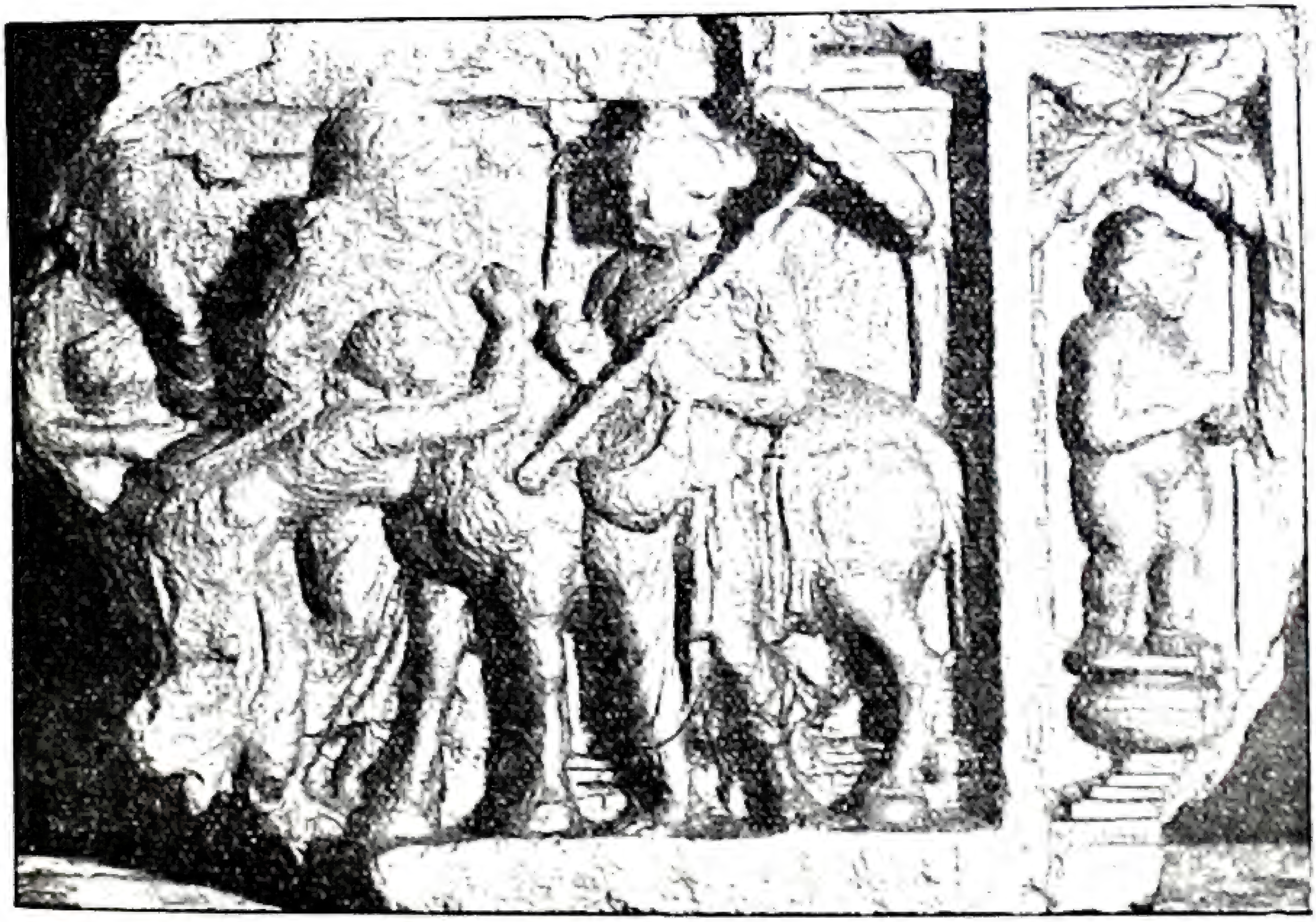
से हाथ बढ़ा कर एंटन को खींचा। युवक ऊपर से खीसें काढ़ कर हँसता रहा। एंटन ने झल्ला कर कहा, "चोकी बाउंडर!" किन्तु फिर शायद सोच कर कि अंग्रेजी गाली भी बाँक को सीधा नहीं करती, एक बार 'हूफ़्फ़!' कर के बैठ गया और बोला, "ऑल राइट, ऑल राइट! आई गिव अप!" (अच्छा भाई, मैं हारा!)

युवक ने हँस कर कहा, "इस से भी अच्छा रास्ता है—" लेकिन फिर पसीज भी गया, बोला, "अब थोड़ा दूर है बुत का जगेह।"

तख्त-बहाई में, अब, देखने को कम है। चढ़ाई का मार्ग और परिपार्श्व का दृश्य ही मुख्य है, क्योंकि आसपास के पहाड़ों पर कई विहारों और दुर्गों के अवशेष हैं, और इन की निर्माण परिपाटी से तत्कालीन वास्तु कला का अनुसन्धान बड़ा रोचक है। जंगम कलावस्तु वहाँ अब लगभग नहीं है, जो रही वह या तो पेशावर के संग्रहालय में गयी या पारखियों के निजी संग्रहों में; बहुत-सी व्यापारियों या निरे चोरों के पास भी गयी और जब-तब किसी रूप में प्रकट हो जाती है। तख्त-बहाई में जो कुछ है—या कि अन्य वैसे स्थानों में—वह सब खंड-खंड; प्रायः मूर्तियों के सिर नहीं हैं और अगर टूटे हुए सिर हैं तो उन के भी चेहरे मिटा दिये गये हैं। और होता भी क्या जब कि बुतशिकनी से जन्नत मिलती हो और राह चलते-चलते भी बुतखानों पर ढेले-पत्थर फेंकते जाने से सहज ही सवाब मिलता रहता हो!

तख्त-बहाई से लाइन आगे दरगई जाती है, जहाँ एक बीहड़ दुर्ग है और जहाँ से मलकंड की घाटी का पथ आरम्भ होता है। यायावर का इरादा मलकंड से स्वात नदी के पार चकदरा के किले तक जाने का था। स्वात की उपत्यका ही प्राचीन 'उड्डीयन' रही (उडेग्राम की बस्ती अब भी है); य्वान च्वाङ ने इस नाम को 'उद्यान' बना दिया, जो कि यों कम उपयुक्त नहीं रहा होगा—सारा प्रदेश विहारों से भरा रहा होगा। फ़ाह्यान के अनुसार वहाँ पाँच सौ संघाराम रहे, और सुङ्युन ने प्रदेश को 'सम-शीतोष्ण' उर्वर, जाड़े-गर्मी भर फूलों से भरा रहनेवाला' बताया।

हैं—रात में सारी उपत्यका घंटा-ध्वनि से गूँजा करती थी . . . वह गौरव न जाने कहाँ विलीन हो गया, अब सारे प्रदेश में असंख्य भग्नावशेष बताते हैं कि वे न केवल कीर्तिनाशा काल-गति के आगे झुके वरन् हजारों भोले मतान्धों के पुण्य-संचय का भी सहज साधन बनते रहे। ब्रितानी सत्ता की धाक से जो स्वात नहर दो मील लम्बी सुरंग काट कर बनी, उस से प्रदेश की हरियाली तो फिर लौट आयी, किन्तु शान्तिदूत बुद्ध के विहारों का स्थान सैनिक डिपो-छावनियों ने ले लिया . . .



महाभिनिष्क्रमण के उपरान्त
सारथि के साथ लौटे घोड़े से लिपटकर
बुद्ध-पत्नी का विलाप
(मलकंड से प्राप्त)

किन्तु कई कारणों से यायावर का आगे जाना न हो पाया, और उसे दूसरे दिन मोटर से केवल मलकंड छू आने से सन्तोष करना पड़ा। किन्तु दरगई में बिताये हुए दो घंटे अवश्य सफल हुए, क्योंकि वहाँ उसे कुछ गान्धार मूर्त्ति-खंड और एक मसाले की बुद्ध-मूर्त्ति का सिर प्राप्त हुआ। सामग्री कुछ और भी थी, किन्तु कुछ तो अधिक टूटी-फूटी थी और कुछ बड़ी भी, उस सब को ले आना तब सम्भव न हुआ।

और तब न हुआ, तो न हुआ।

और अब न होगा...

*　　　*　　　*

मर्दान से पेशावर चारसदा हो कर जाने का विचार था, इसलिए कि एक नया रास्ता भी देख लिया जायगा और साथ ही एक प्राचीन नगरी का स्थान भी—चारसदा ही सिकन्दर-कालीन राजधानी पुष्कलावती है। किन्तु तभी चारसदा में एक घटना हुई जिस में दो-एक भारतीय सिपाही मारे भी गये; फलतः चारसदा 'हद से बाहर' घोषित कर दिया गया और रास्ता सैनिक यात्रियों के लिए बन्द कर दिया गया।

लौटते हुए रिसालपुर के पास एक घटना घटी। काबुल नदी के पुल और रिसालपुर के बीच में कुछ टीले हैं जिन में से हो कर सड़क जाती है। ये टीले ऐसे हैं कि दूर से आती-जाती गाड़ी वहाँ से दीखती है जब कि टीले की ओट में बैठा व्यक्ति सड़क से नहीं दीखता। पठान युवक ऐसे स्थलों पर बैठ कर चाँदमारी का अभ्यास किया करते हैं—और ऐसे ही स्थलों पर नौसिखिया बन्दूकचियों की परीक्षा भी हुआ करती है। झुटपुटे का समय इस के अनुकूल होता है, क्योंकि दिन में दूर से ठीक नहीं जाना जाता कि आती-जाती गाड़ी में निशाना कहाँ लगा, जब कि दिया-बाती के बाद तुरत पता लग जाता है कि मोटर की बत्ती की शिस्त ले कर चलायी गयी गोली ठीक बैठी या चूक गयी। यायावर ने यह बात नौशेरा में ही सुन ली थी, और जिस जानकार से सुनी थी उस ने यह भी उपदेश दिया था कि कभी लाचार झुटपुटे के समय आना पड़ ही जाय तो

वत्तियाँ तेज़ न जलायी जानी चाहिए बल्कि मन्द करके। क्यों ? इस लिए कि तेज़ बत्ती की चौंध होती है; पठान निशानेबाज़ अगर ठीक शिस्त न ले पायेगा तो गोली जहाँ-तहाँ लग सकती है, अगर मन्दी बत्ती होगी तो निशाना बत्ती पर ही लगेगा।

उस समय तो बात बहुत पते की जान पड़ी थी। यह न सोचा कि निशानेबाज़ अगर नौसिखिया होगा, तो वह बत्ती का ही निशाना लगाने की मर्यादा नहीं भी रख सकता है; शगल के लिए यह भी तो सोचा जा सकता है कि अगर बत्ती अमुक स्थान पर है तो पिछला टायर कहाँ पर होना चाहिए—या देखें तो ड्राइवर की सीट का अनुमान से निशाना लगाया जा सकता है या नहीं ! यह बात यायावर की समझ में तब आयी जब वह मर्दान से साँझ को ही लौटा, और टीले के पास आ कर उसने बत्ती मन्द करने की बजाय बिल्कुल ही बन्द कर दी। उसे अँधेरे में गाड़ी चलाने का अभ्यास कुछ तो था ही, और कुछ वह बढ़ाना भी चाहता था। टीले के मोड़ पर मुड़ते ही एक गोली झन्न से अगले दायें मडगार्ड पर लगी—शायद पहिये के लिए प्रेषित की गयी थी—और दूसरी सामने के दो शीशों में से बायें शीशे को भेदती चली गयी । यह ड्राइवर के लिए भेजी गयी रही होगी, या कि (यह मान कर कि ड्राइवर तो निरा ड्राइवर होता है, असली सवारी तो बगल में होगी !) साथ के व्यक्ति के अभिवादन में ! एंटन भाग्यवश थका होने से पिछली सीट पर लेटा हुआ था, नहीं तो उस दिन एक रूसी कलाकार कम हो गया होता। यह और बात है कि कोई उसे न रूसी माने, न कलाकार !

थोड़ा देर में दूसरे टीले की ओट मिल गयी, फिर खुला रास्ता, जहाँ बत्तियाँ जला ली गयीं...

*　　　　*　　　　*

तीसरा अभियान—कोहाट।

पेशावर से यों तो खैबर का सीधा रास्ता है, और वास्तव में अनुक्रम में रहा भी पहले खैबर, किन्तु पथभ्रंशों का इतिहास पूरा ही हो जाय तो आगे बढ़ा जायगा ।

नौशेरा से आगे भी सड़क कावुल नदी के साथ-साथ चलती है—कभी कुछ निकट, कभी कुछ दूर। नौशेरा से कुछ आगे ही वाग आरम्भ हो जाते हैं, और पव्वी स्टेशन से आगे पेशावर तक के वारह-एक मील तो जैसे एक लम्वा वाग ही है। पव्वी से वायें तो चेरात का पर्वतीय ठिकाना है जिस की पिछली (दक्खिनी) तरफ़ कोहाट पड़ता है। पेशावर से कोहाट का रास्ता कोहाट की जोत से हो कर जाता है। पेशावर से दक्षिण को जा कर आदमखेल अफ़ीदियों का स्वतन्त्र इलाका पार करते हुए जोत की चढ़ाई आरम्भ होती है; ठीक जोत पर एक किला है और उस के वाद ही सख्त उतराई शुरू हो जाती है—तीन मील में रास्ता लगभग एक हज़ार फ़ुट नीचे उतरता है!—और दो मील और जा कर कोहाट पहुँच जाते हैं। कोहाट की जोत, तीरा पर्वत-श्रेणी की सव से पूर्वी बाँही को काटती है। जोत भी स्वतन्त्र इलाके में है और दिन में ही पार की जा सकती है।

तीरा पर्वत-श्रेणी के अफ़ीदी जाड़ों में आकाखेल और कजुरी के खुले प्रदेश में उतर आते हैं, जो वाड़ा नदी की दून है। यह नदी पेशावर से दक्षिण में कोहाट की सड़क को और पूर्व में ग्रांड ट्रंक रोड को काटती है, और इसी से पेशावर को पानी मिलता है जो वाड़ा से आठ मील जलप्रणालियों द्वारा लाया जाता है। इसी दून से अफ़ीदियों ने सन् १६३० में पेशावर पर आक्रमण किया था, जिस के वाद उस प्रदेश पर कब्जा कर लिया गया था। किन्तु कोहाट की सड़क पहले पन्द्रह मील के वाद स्वतन्त्र इलाके में प्रवेश करती है और कोहाट की जोत को पार कर के उस से निकलती है। सड़क पर कँटीले तार के जाल स्वतन्त्र प्रदेश की मर्यादा सूचित करते हैं। यहीं पास में ऐमल चवूतरा है और उस से वायीं ओर मैकिसन दुर्ग। सड़क हरे-भरे और सुन्दर प्रदेश से गुज़रती है, जहाँ-तहाँ धान के खेतों के बीच फल-वृक्षों के झुरमुटों में गाँव हैं और चमचमाते-स्वस्थ चेहरेवाले अफ़ीदी पीठ पर एक और कभी दो-दो राइफ़लें लटकाये घूमते हैं। सड़क से कुछ हट कर ही इस प्रदेश का वन्दूकों का मुख्य कारखाना है।

कोहाट से आगे एक सड़क रेल की पटरी के साथ थल को जाती है, दूसरी बहादुरखेल होती हुई बन्नू, और एक सड़क खुशहालगढ़ पार कर के कैम्बलपुर जा मिलती है। कुर्रम नदी पर बसा हुआ थल तो एक टोली के साथ जा कर छू आया गया, किन्तु और आगे का डौल नहीं हो सका।

पुनः उसी राह से पेशावर लौटना पड़ा।

* * *

भारत के नगरों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। यों तो किसी भी शहर को एक विशेषण में नहीं बाँध लिया जा सकता क्योंकि प्रत्येक में विविधता है, किन्तु उस विविधता की भी अलग लीकें हैं। यथा जोधपुर में रंगों की विविधता उसे विशिष्ट करती है, श्रीनगर में गन्धों की विविधता ('सहस्रगन्धा नगरी'), लाहौर में गन्दगी की अथवा (इस विषय में कलकत्ते को प्रतियोगी मान लें तो) फ़ैशन की, इत्यादि। इसी प्रकार पेशावर की विशेषता उस के बाज़ारों की सजीवता में थी—यद्यपि उन में रंगीनी, गन्ध या गन्दगी या फ़ैशन की भी कुछ कमी न थी!

बाड़ा नदी को पार कर के और बालाहिसार के किले के नीचे से होते हुए यायावर पेशावर पहुँचा, तो पहली समस्या रहने के स्थान की हुई। उस का समाधान हुआ तो दूसरी समस्या भोजन की हुई, किन्तु उस पर विचार करने जब होटेल ग्रीन्स में बैठ कर चाय-पान शुरू किया—भोजन का समय निकल चुका था, समस्या का हल रात तक ढूंढ़ा जा सकता था!—तब सामने की मेज़ पर एक पठान को अन्य सामग्री के साथ तीन-तीन पाव भुनी हुई दुम्बे की चर्बी की एक के बाद एक कर के तीन प्लेट खा लेते देख कर यायावर ने समझ लिया कि इस भोजन-रसिक रसना-लोलुप देश में समस्या अगर होगी तो खाने की नहीं, न खाने की हो सकती है!

पेशावर तीन स्पष्ट भागों में बँटा है। एक भाग तो शहर है ही, एक सिविल बस्ती है जो अन्य अच्छी सिविल बस्तियों की तरह साफ़-

सुथरी और ढंग की बनी है, फिर एक फ़ौजी बस्ती अलग जिस से लगा हुआ हवाई बन्दर भी है। छावनी का रखाव ऐसा बनाया गया है कि दोनों सिरों पर भारतीय सैन्य रहता है और बीच में ब्रितानी पलटनें।

शहर उन दिनों फ़ौजियों के लिए 'हद से बाहर' था—उन का इलाका सिविल लाइन और सदर तक सीमित था। किन्तु पेशावर आ कर पेशावर न देखना असह्य था। छुट्टी के दिन तक प्रतीक्षा अवश्य की जा सकती थी। इस अन्तराल में कुछ स्थानीय परिचय भी पा लिये गये। रूसी उज़बकिस्तान के एक व्यक्ति अब्दुल करीम का, जिस से बम्बई का थोड़ा-सा परिचय था, पता लगाया गया, और उस के द्वारा और दो-चार व्यक्तियों से सम्पर्क हुआ। इन्हीं में से एक, ताजिक नूर मुहम्मद से तय हुआ कि रविवार को शहर में उस के यहाँ भोजन होगा और बाज़ार की सैर की जायगी। इस निर्णय में एंटन का भी भाग था, कैसे, यह अभी विदित होगा।

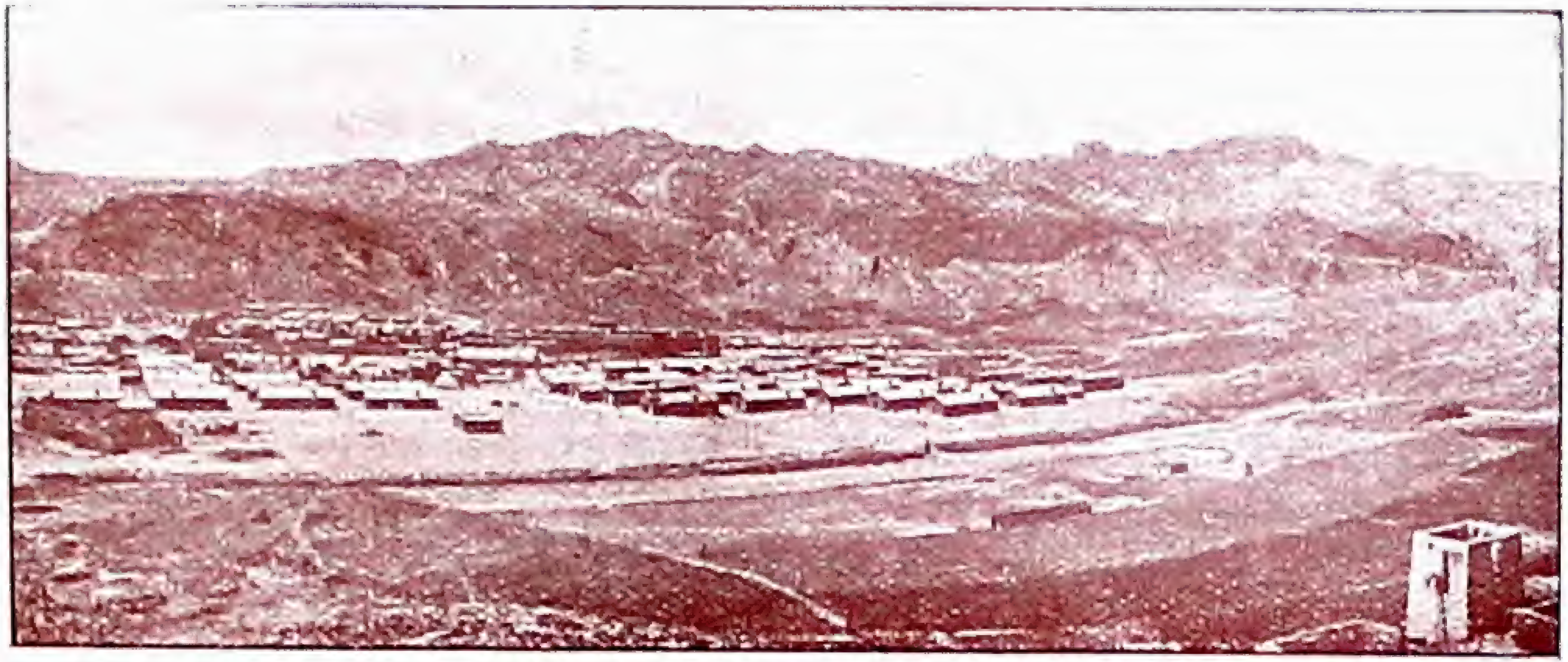
रविवार को यायावर ने मुफ़्ती पहनी। सिर पर अब्दुल करीम से माँगी हुई अस्त्रखानी टोपी लगायी। एंटन पर तो बन्धन था ही नहीं। दोनों खोजते हुए नूर मुहम्मद के यहाँ पहुँचे। भोजन में भुना हुआ माँस, खमीरी मीठी रोटी जिस में भीतर किशमिश और ऊपर खसखस यथेष्ट था, और गहरी चाय मिली। भोजन के बाद वार्तालाप हुआ, जिस का ढंग उल्लेखनीय था। एंटन अंग्रेजी के अतिरिक्त ताजिकी भाषा जानता था। नूर मुहम्मद की वह मातृभाषा थी, उस के अतिरिक्त वह उज़बकी भी जानता था। अब्दुल करीम उज़बकी और उर्दू जानता था। वार्तालाप चक्रगति से चला—यायावर एंटन से अंग्रेजी में कुछ कहता, एंटन नूर मुहम्मद से ताजिकी में बात करता, नूर मुहम्मद अब्दुल करीम से उज़बकी में, और अब्दुल करीम यायावर को उर्दू में उत्तर देता। यों दोनों की भाषा में फ़ारसी धातुओं की यथेष्ट मात्रा रहने के कारण कुछ बात तो यों भी अनुमान से समझी जा सकती थी।

नूर मुहम्मद जूतों का व्यापार करता था—वह और उस का परिवार स्वयं जूते सीते थे। उस की कारीगरी की कीर्ति थी और उस के हाथ के



बुगहाल गढ़ में सिन्धु नद की घाटी का वैमानिक चित्र

(भारतीय वार्यविक सर्वे के सौजन्य से, कापी राइट सुरक्षित) (पृष्ठ [illegible] के सम्मुख



लंडी कोतल की छावनी, खैबर

[पृष्ठ ६५ के सम्मुख

सिले जूते दूने दामों पर विकते थे। उस के साथ वाज़ार की सैर आरम्भ हुई तो पेशावरी तिल्लई चप्पलों के बाज़ार में पहले घुसना स्वाभाविक था —नज़दीक भी वही था!

पेशावर का शहर अन्य उत्तरी शहरों की भाँति प्राचीर घिरा हुआ है जिस में बीस फाटक हैं। इन में मुख्य कावुली दरवाज़ा है, जिस के भीतर पेशावर का अनुपम किस्साखानी वाज़ार है। रेशमी लुंगियाँ, कुले, कपड़े पर मोम का काम, कारुकार्य, तिल्लई चप्पल और वढ़िया चाकू—ये पेशावर के मुख्य व्यवसाय हैं। यों तिल्लई जूते बढ़िया रावलपिंडी के ही माने जाते हैं और वहाँ से पेशावर भी विकने आते हैं। इन स्थानीय शिल्पों के अतिरिक्त पेशावर सारे उत्तर-पश्चिमी अंचल के शिल्प के लिए बड़ी मंडी है; कावुल, वुखारा और मध्य एशिया से सार्थवाह यहाँ आते हैं। स्वात और चित्राल की दस्तकारियों के नमूने भी यहाँ मिलते हैं। खैबर के रास्ते सप्ताह में दो वार जो मीलों लम्बे काफ़िले उतरते और चढ़ते हैं, पेशावर ही उन का परम तीर्थ होता है। बाज़ार में मोल-तोल करने का भी पठान का अपना ढंग है, जिसे और लोग अपना तो सकते ही नहीं, सर्वदा ठीक समझ भी नहीं सकते। यह सब आवाजाई, हल्ला-गुल्ला, खींच-तान, लल्लो-चप्पो, टिटकारी-निहोरे, चमक-दमक, कुला-शमला, जूतों की चरमर और मोछों की ऐंठन उस जगमग सजीवता के उपकरण हैं जिसे वाज़ार किस्साखानी कहते हैं; और जहाँ-तहाँ सींक और चपली कवाव, भुने दुम्बे, मेवे-वादाम और फलों की गन्ध-विगन्ध और रंग-विरंगी दुकानों से मानों इसमें और भी चिलक आ जाती है. . .

किस्साखानी वाज़ार को देख कर उस का सामंजस्य प्राचीन भारत का इतिहास पढ़ कर मन में वनाये हुए पुरुषपुर के चित्र के साथ करना कठिन हो जाता है। गान्धार राज्य की राजधानी पुरुषपुर का नामान्तर अकवर के समय हुआ था, जब वह गान्धार राज्य की राजधानी से अपदस्थ होकर केवल 'पेश आवर' रह गया—सीमान्त का नगर। प्राचीन गौरव के अवशेष जहाँ-तहाँ पुराखंडों में ही मिलते हैं। पेशावर के पास

ही 'शाहजी की ढेरी' में अनेक अन्य वस्तुओं के साथ एक कनिष्ककालीन मंजूषा भी मिली जिस में बुद्ध के धातु सम्पुटित थे। यह मंजूषा अब पेशावर संग्रहालय में है। आठवीं शती से पुरुषपुर पर पठानों के आक्रमण होने लगे; ग्यारहवीं शती के आरम्भ में राजा जयपाल और युवराज आनन्दपाल मुहम्मद ग़ज़नवी से पराजित हुए। पन्द्रहवीं शती से वे कबीले आस-पास बसने लगे जो अब वहाँ के रहनेवाले हैं। सोलहवीं के आरम्भ में बाबर उधर से आया और उस के बाद अकबर ने शहर को नया नाम दे दिया। इन कई शतियों का इतिहास पेशावर संग्रहालय की वस्तुओं से मिल जाता है—वहाँ पर शाहजी की ढेरी के अतिरिक्त चारसदा, स्वात की दून, तख़्त-बहाई और शहरे-बहलोल के भी अवशेष संग्रहीत हैं।

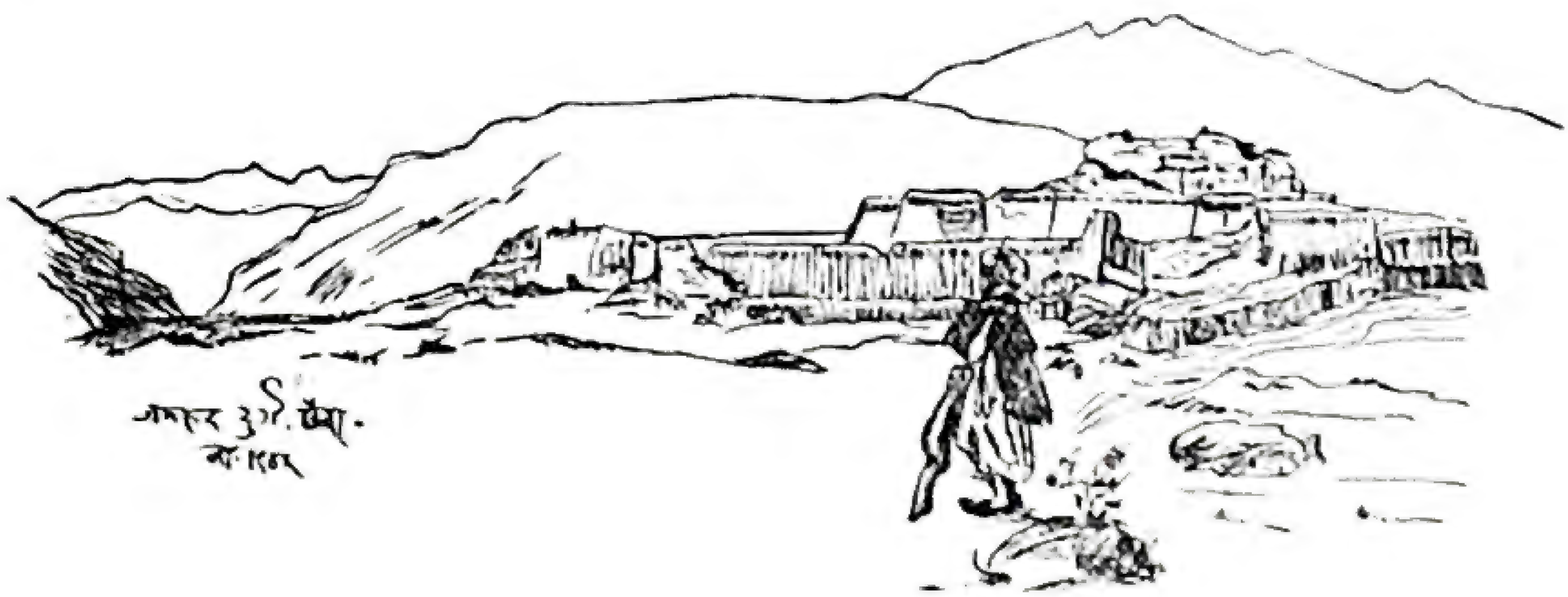
संग्रहालय के बाहर भी जहाँ-तहाँ अवशेष हैं, जिन के अवहेलासूचक नाम ही उन के ऐतिहासिक महत्त्व का वक्र संकेत करते हैं। उदाहरणतया पेशावर में ही जो गोर खत्री ('खत्री की क़ब्र') है, वह कभी बौद्ध विहार था, फिर हिन्दू मन्दिर रहा (अब वह तहसील है)। इसी प्रकार लंडी कोतल के ऊपर एक लाल किला है जिसे काफ़िर कोट कहते हैं—इस का इतिहास ज्ञात नहीं पर स्पष्ट ही वह गान्धार-काल की स्मृति है।

इसी प्रकार जिन स्थलों के नामों में बड़ाई है, उन्हें इतिहास का अध्येता मुस्करा कर छोड़ दे सकता है—यथा स्टेशन के निकट ही 'नौगज़ा पीर' का मज़ार—इस पीर के नौ गज़ लम्बे रहे होने के अतिरिक्त और उस की कीर्ति न मालूम हो सकी—यों पीर का मज़ार पाकगाह है और मुरादें पूरी करता है!

* * *

पेशावर से चले, तो यायावर का कुनबा कुछ बढ़ गया था। एंटन तो साथ था ही, चित्रकार कँवलकृष्ण और उन की पत्नी देवयानी भी साथ थीं। देवयानीजी इन्दौर की रहनेवाली हैं और स्वयं चित्रकर्त्री हैं, कँवल-कृष्ण जन्मना पंजाबी हैं, लेकिन वैसे यायावर परम्परा के साधक, जो चित्रों की सामग्री की खोज और घूमने की लत के कारण तीन-चार बार तिब्बत

और दो-तीन बार कैलास हो आये हैं और पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त भी छान चुके हैं। उन दिनों प्रान्त के गवर्नर सर जॉर्ज कनिंगहम के संरक्षण में कँवलकृष्ण-दम्पति की एक चित्र-प्रदर्शनी हो रही थी, जिस में विभिन्न यात्राओं में अंकित किये गये चित्र प्रदर्शित किये गये थे। यायावर ने कँवलकृष्ण को एक बार पहले देखा था जब वह महापंडित राहुल सांकृत्यायन के साथ तिब्बत गये थे; पेशावर में एक परिपक्व और विदग्ध रूपान्तर देखने को मिला। तभी ख़ैबर-यात्रा का साथ निश्चित हो गया। कँवलकृष्ण उन भारतीय चित्रकारों की श्रेणी में अन्यतम हैं, जिन की साधना और रचना की (भारतीयों द्वारा) उपेक्षा ही होती रही है। जहाँ चित्र के साथ पुराण नहीं तो कहानी तो अनिवार्यतः चाहिए ही, वहाँ दृश्यालेख (लैंडस्केप) की क़द्र क्या होगी, और जहाँ घर-गिरस्ती आबाद करना ही जीवन की सफलता हो, वहाँ इस भटक-भटक कर अनुभव-संचय, और जीवन के रसशोध को कौन महत्त्व देगा! यह नहीं कि वैसे व्यक्ति को इस की परवाह होती है, किन्तु इन चीज़ों का उचित स्थान समझना कुछ देना नहीं, कुछ पाना है, और उस से संस्कृत जीवन की गहराई बढ़ती है...



जमरूद दुर्ग, ख़ैबर

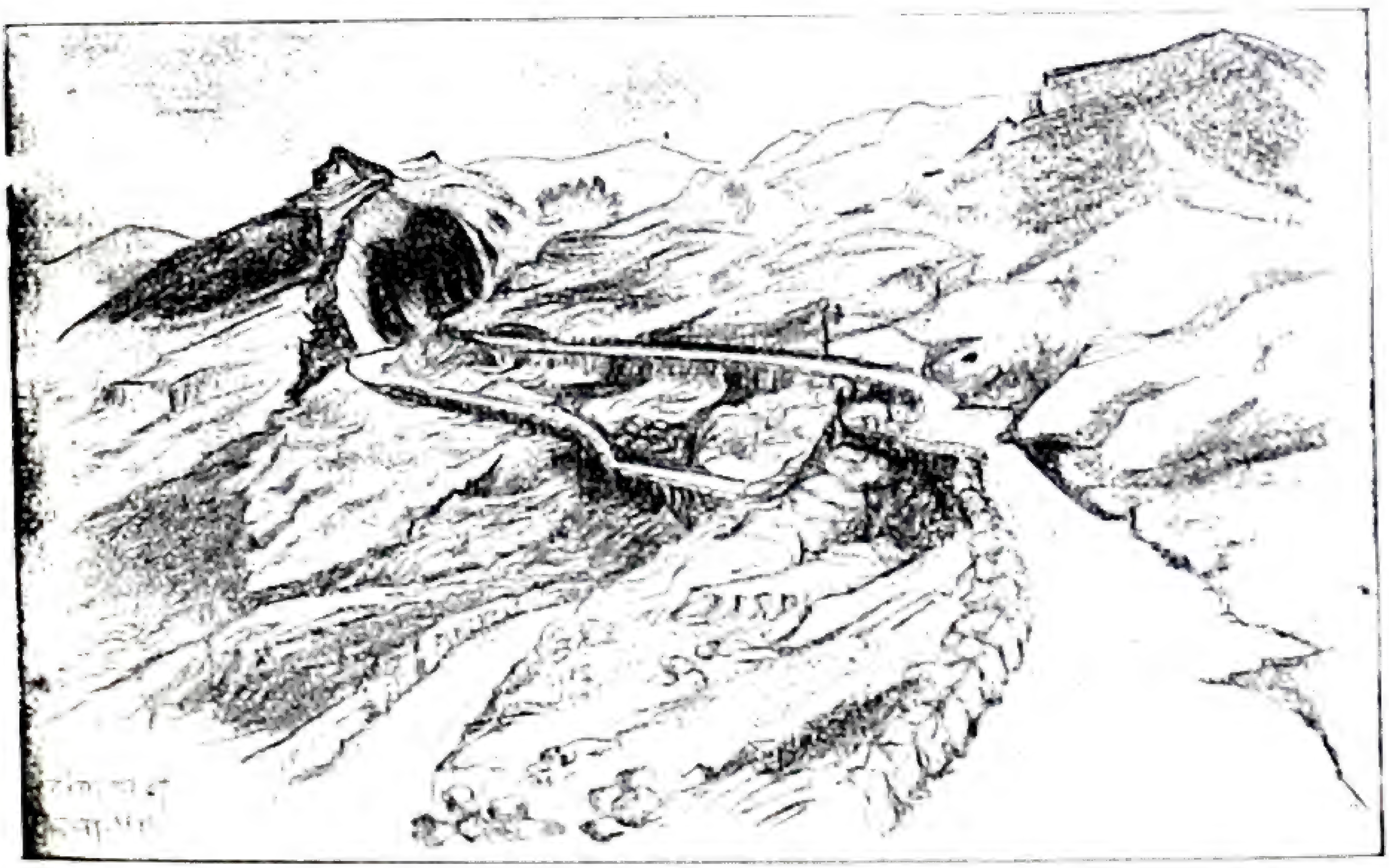
परमिट इत्यादि सब पहले से ले लिया गया था और लंडी कोतल की छावनी को सूचना भी कर दी गयी थी। प्रातःकाल ही हवाई बन्दर के

पास से हो कर यह 'मोटरवन्द काफ़िला' चला। कँवलकृष्ण-दम्पति ने एक डलिया में थर्मस भर चाय, कुछ फल और कुछ अन्य सामग्री रख ली थी, एंटन को यों ही समय-असमय चरने की आदत थी और प्रायः चार पैकेट आलू के कुरकुरे और कुछ सैंडविच (डबल रोटी के पुटों में अंडा, मछली, तरकारी या कीमे का पूर) उस के दोहरे सीने की वास्केट के बहुसंख्यक खीसों में भरे ही रहते थे। यायावर भगवान भरोसे था।

इस्लामिया कॉलेज के पास से हो कर सीधी-सपाट सड़क पर साठ-पैंसठ मील की चाल से गाड़ी चली जा रही थी। सामने खैबर की पहाड़ियाँ थीं, छोटे-छोटे अभ्रक-से चमकते पत्थरों की पच्चीकारी से भरी हुई सूखी, नंगी ढालें जिन में जहाँ-तहाँ कीलियों-सी मीनारें दीख जाती थीं। बायीं ओर हरिसिंह बुर्ज को छोड़ कर गाड़ी जमरूद पर रुकी। यह जंगी जहाज-सा दीखनेवाला, गारे की पपड़ी से ढका हुआ दुर्ग भी हरिसिंह के नाम से सम्बद्ध है—सिख सेनापति हरिसिंह नलवा ने अफ़गानों को अटक से खैबर तक खदेड़ने के बाद—सन् १८२३ में इसे बनवाया था। यहीं पर चौदह वर्ष पीछे अमीर दोस्त मुहम्मद के सैनिकों से युद्ध करते हुए नलवा सरदार ने वीर-गति पायी। हरिसिंह बुर्ज में उस का दाह-संस्कार हुआ, और पीछे गुजराँवाला में समाधि बनी जो अभी तक है। देखने को किला बिल्कुल गारे से बना हुआ दीखता है, किन्तु उस की दीवारें आठ हाथ मोटी हैं, और धुस्स दोहरे फाटक और बुर्जों से परिपुष्ट की गयी हैं। किले के नीचे ही चौकी है जहाँ परमिटों की पड़ताल होती है। जमरूद पार कर के खैबर घाटी की चढ़ाई आरम्भ हो जाती है।

खैबर मार्ग को 'पास' कहते हैं, पर 'पास' वास्तव में 'जोत' का का पर्याय है। पहाड़ी की रीढ़ पर की वह नीची जगह जहाँ रास्ता इस पार चढ़ कर उस पार उतरे, 'जोत' कहलाती है; यह नाम कुलू-काँगड़ा में अधिक प्रचलित है। इसी को गढ़वाल कुमाऊँ में 'घाटा', राजस्थान में 'घाटी' और पुश्तु में 'कोतल' या 'गर्दन' कहते हैं। पहाड़ की शृंखला के आरपार रास्ते को दर्रा कहते हैं, और खैबर का दर्रा

उपयुक्त नाम है। सड़क और रेल की पटरी कुछ तो खैबर नाले की दून से और बाकी बगियारी की दून से हो कर गुजरती है। लंडी खाना से तीन मील पहले ही वह जोत पड़ती है जहां से रास्ता शृंखला के पूर्वी पार्श्व को छोड़ कर पश्चिमी पार्श्व पर उतरता है; यह जोत लंडी की जोत अथवा लंडी कोतल है। सड़क लंडी खाने से आगे तूर्खम तक जा कर अफ़गान-सीमा में प्रविष्ट होती है। रेल की पटरी लंडी खाने में समाप्त हो जाती है।



खैबर की सड़क का एक दृश्य

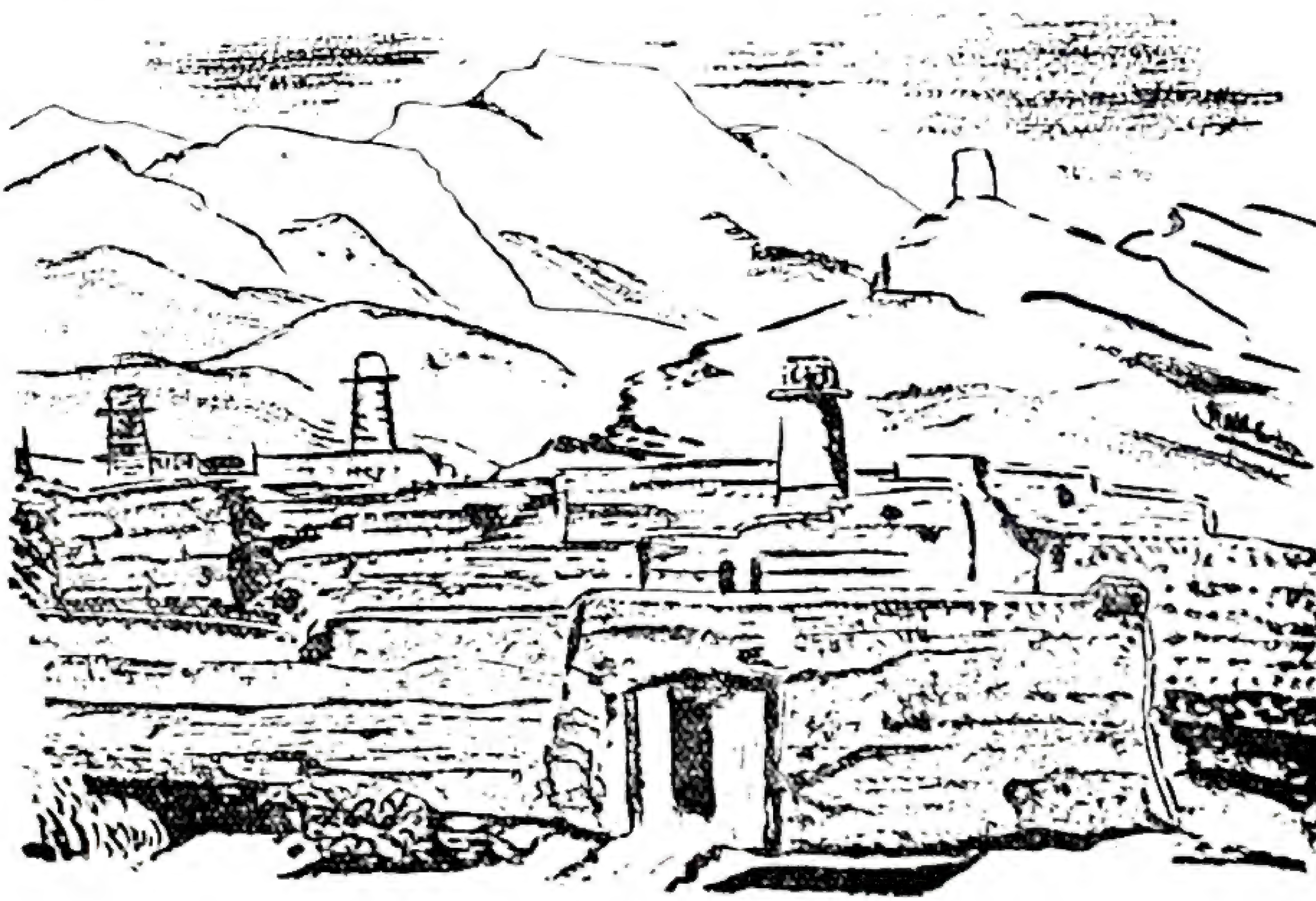
खैबर रेलवे इंजिनियरी विद्या का करिश्मा है। कई विदेशी विशेषज्ञों ने रेल की योजना को असम्भव ही घोषित कर दिया था, और सैनिक आवश्यकता के बिना इतना दुस्तर काम कभी उठाया न जाता। जमरूद से छब्बीस मील की पटरी पर चौंतीस सुरंगें हैं जो कुल पटरी की लम्बाई

का अष्टमांश छते हुए हैं; एक मील में औसत लगभग चार पुल हैं जिन में कई बड़े दुर्गम स्थलों में बने हैं। चढ़ाई का अनुपात औसत ३३ में १ है, और कहीं-कहीं इससे भी कर्रा। चंगई स्टेशन पर एक मील से कम के घेरे में पटरी १३० गज़ उठती है, जो कि १३ में १ की चढ़ाई है। इतना अवश्य है कि यहाँ पर दूरी बढ़ाने के लिए पटरी दो बार आगे-पीछे जा कर त्रिपुंड-सा बनाती हुई चढ़ी है। इसी प्रकार लंडी कोतल से लंडी खाने की उतराई में तोड़ाटिग्गा की लौट (रिवर्सिंग) में भी हुआ है। रेल की पटरी के लिए एक यह भी समस्या थी कि वह कहीं भी सड़क से आधे मील से अधिक दूर न हो—सैनिक-सुरक्षा की दृष्टि से इस मर्यादा का कड़ाई के साथ पालन हुआ। अब दोनों में औसत दूरी चौथाई मील की है।

खैबर की सड़क का निर्माण पहले-पहल लेफ़्टिनेंट मैकिसन ने प्रथम अफ़गान युद्ध के बाद सन् १८४० में किया था। उसने सड़क का निर्माण दोनों सिरों से आरम्भ किया था—जमरूद से ऊपर और लंडी से नीचे, अली मस्जिद तक। वैसे खैबर के दर्रे का प्राचीन व्यापारिक मार्ग तो सदियों से चला आता था और अब भी पक्की सड़क के साथ-साथ कहीं-कहीं उसे काटता हुआ चला है। यह प्राचीन मार्ग भारत के सभी विदेशी आक्रमणों का मार्ग न भी रहा हो, तो भी यह एशिया की जातियों का सदा परिचित रहा और नाना देशों के सार्थवाहों ने इसी की धूल की झिलमिल के पार ऋद्धि के स्वप्न देखे। भारत के गान्धार उपनिवेश से सम्पर्क की धमनी तो यह थी ही, ईरान और अरब के लिए भी यही मार्ग था। अभी तक मध्य एशिया के व्यापार के लिए यह प्रमुख निर्यात मार्ग है, और अब भी सप्ताह में एक या दो बार इसी राह से दो-कुब्बे बाख़्त्री ऊँटों, बैलों, खच्चरों और गधों के मीलों लम्बे काफ़िले गुज़रते हैं, जिन के साथ टाँडा-टब्बर लिये सैकड़ों काफ़िलेदार चलते हैं। प्राचीन काल में ये काफ़िले अपनी रक्षा की व्यवस्था स्वयं करते थे, जब यायावर गया तब रक्षा का काम खासादारों के सिपुर्द था, जो ब्रितानी पोलिटिकल एजंट से गोलाबारूद और रुपया पाते थे। इन काफ़िलों से लम्बे (यद्यपि सर्वथा

भिन्न प्रकार के !) टांडे उत्तर-पश्चिम में केवल रज़मक के नीचे गोमल नदी की दून में देखे जाते हैं, जहां घुमन्तू पविंडे जाड़े लगते ही अपने रेवड़ लेकर अफ़गानिस्तान के पर्वतों से उतरते हैं और बसन्त में फिर पश्चिमोन्मुख होते हैं। ये टांडे तो छः-सात मील लम्बे होते हैं !

खैबर की सड़क कोटों और दुर्गों से पटी हुई है। जमरूद के बाद फ़ोर्ट मांड, शगई और अली मस्जिद के किले मुख्य हैं, फिर ज़िनतारा पार कर के लंडी पहुँचते हैं जो बड़ी छावनी है। शगई का किला कच्ची



खैबर का एक किलेबन्द गांव

और पक्की सड़क के बीच पड़ता है। इस के बाद अनेक बुर्जों और ठियों से भरी एक तंग घाटी में से बढ़ते हुए काटा कुश्ता पहुँचते हैं, जहां से रास्ता फिर खुल जाता है। काटा कुश्ता तक का प्रदेश कुकीखेल और मलिकदीन कबीलों की भूमि है, इस से आगे लंडी तक दबंग ज़क्काखेल

का इलाका है। लंडी के आसपास इस खेल के अतिरिक्त शिनवारियों के भी गाँव हैं। जिनतारा के आसपास अनेक अफ़ीदी गाँव हैं। कच्ची ईंट और गारे के अफ़ीदी घर चपटे, सूने और मनहूस दीखते हैं, बाहर से गाँव का कोई किवाड़ नहीं दीखता, केवल सपाट दीवारें जिन में जहाँ-तहाँ बन्दूक की नली निकालने भर को सूराख...अंग्रेज़ी कहावत है कि 'अंग्रेज का घर उस का गढ़ है', लेकिन अफ़ीदी का सब कुछ ही गढ़ है—उस की आँखें, हृदय, चेहरा, शरीर, उस का घर, गाँव, कबीला, सभी !

लंडी कोतल पहुँच कर नियमानुसार हाज़रियाँ भर कर छुट्टी पा ली, तो समस्या हुई कि घूमने के लिए मार्ग-दर्शक कहाँ मिलेगा। यों वर्दी पहने होने के कारण थोड़ा-बहुत तो यों ही भटका जा सकता, पर इतना पर्याप्त न था। कोतल के फ़ौजी अस्पताल के कमांडिंग अफ़सर मेजर रैना ने उबारा—उन के उदार आतिथ्य से तृप्त हो कर उन के सहकारी कप्तान सिंह को साथ लेकर यायावर आगे चला।

लंडी खाने की उतराई यों भी कर्री है, तिस पर उस कंकरीट की सड़क पर 'अजगर-दाँत' पड़े हुए थे। अजगर-दाँत (ड्रैगन्स टीथ) जंगी टैंकों की बाढ़ को रोकने के लिए सड़क पर बनाये गये लोहे और कंकरीट के अटकाव को कहते हैं। कंकरीट की सड़क में जमायी हुई लोहे की कीलियों पर कंकरीट के टोपे जमा कर सड़क को आर-पार पाट देते हैं। टैंक के पहिये जो अपनी कनखजूरी पेटी के कारण खाई-खड्ड सब लाँघते हुए उतरते-चढ़ते जा सकते हैं, इस एक-डेढ़ फुट ऊँची बाधा से रुक जाते हैं क्योंकि उस की समकोण उठान कहीं पकड़ाई नहीं देती और न उसे धक्के से गिराया जा सकता है। यह कोई स्थायी रक्षा तो नहीं है पर इस से दो-तीन दिन का भी अवकाश रक्षकों को मिल जाय तो यथेष्ट होता है। जिन दिनों यायावर गया उन दिनों आधी सड़क में दाँत लगे हुए थे, बाक़ी खुली थी पर इस में भी जहाँ-तहाँ कीलियाँ लगी हुई थीं। काबुल से आने वाली सड़क पर टैंक-रोधक रक्षाओं की आवश्यकता पर यायावर विचार कर ही रहा था कि उसे याद आया, युद्ध आरम्भ हुआ तब

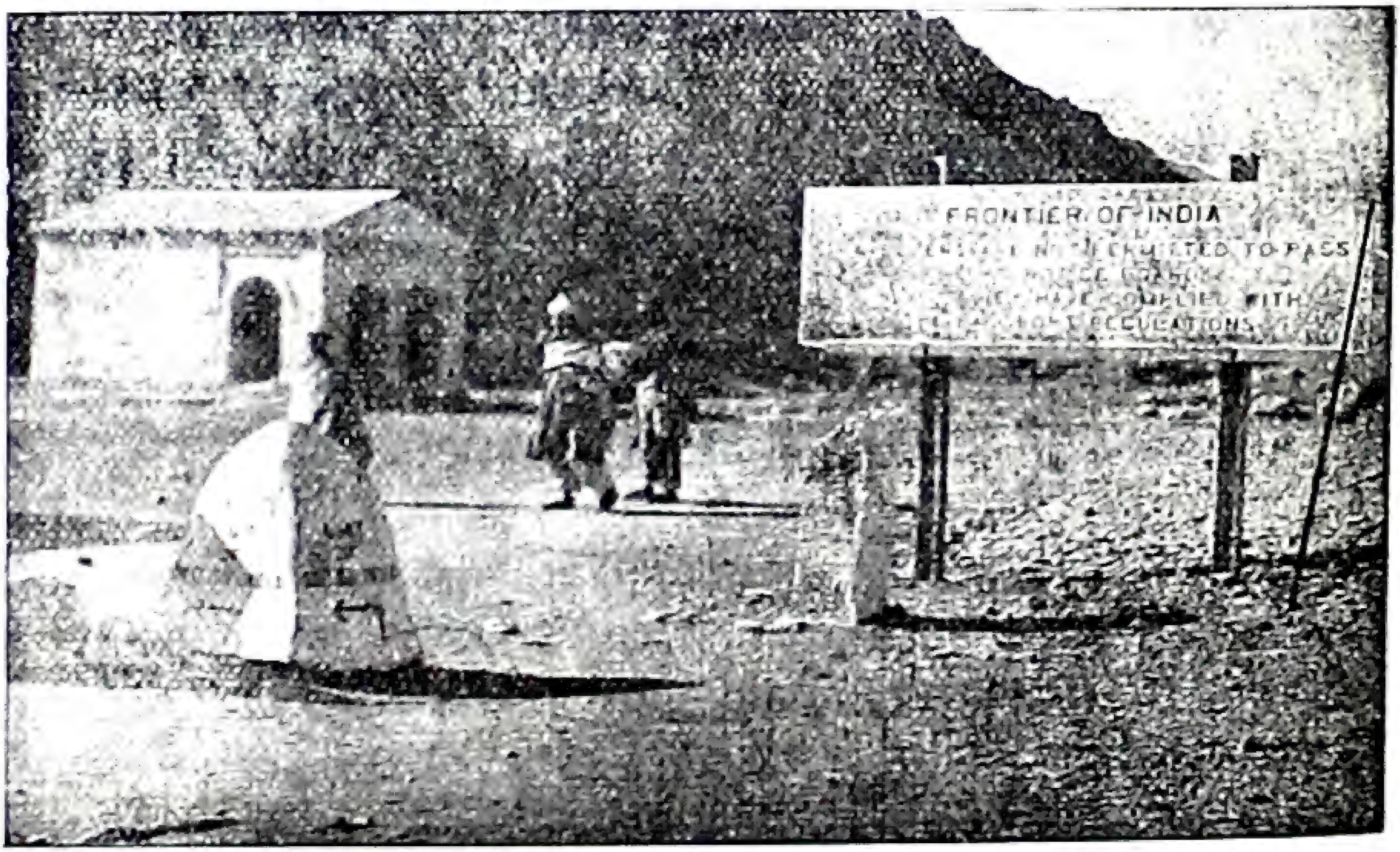
भारतीय सेना के ब्रितानी संचालक संकट की सम्भावना पूर्वी सीमान्त पर नहीं, पश्चिमी सीमान्त पर करते थे, और आक्रमण भी नात्सी-फ़ाशी देशों का नहीं, रूस का! ये सब रक्षाएँ काबुल मार्ग से आने वाले सम्भाव्य रूसी आक्रमण की रोक के लिए की गयी थीं—आधी सड़क बन्द कर दी गयी थी और बाक़ी को आवश्यकता पड़ते ही बन्द करने की व्यवस्था कर रखी गयी थी! यायावर को एक उच्च सैनिक अधिकारी ने जो एक सशस्त्र मोटरबन्द सेना (आर्मर्ड कोर) के अफ़सर थे, बताया था कि सन् '४२ के पूर्वार्ध में भी उन की सेना रूस का सामना करने के 'नकली युद्ध' और अभ्यास कर रही थी। युरोपीय युद्ध की निष्पत्ति के उपरान्त इन दाँतों को उखाड़ देने का कार्य आरम्भ हुआ, किन्तु उतनी दूर तक ले जा कर छोड़ दिया गया जितने से आने-जाने का पथ खुला रहे।

लंडी खाने से पहले पथ के उत्तर को मिचनी कंडाव का किला पड़ता है। यहाँ से पहाड़ का उत्तर गैंडे के पार्श्व जैसा सीधा है, जिस में सड़क बल खाती उतरती है। रेल का ऐसे मार्ग से जाना असम्भव दीखता है, किन्तु उस का अधिकांश भाग सुरंगों में से ही जाता है और तोड़ाटिग्गा में जा कर निकलता है, जहाँ से लौट कर रेल लंडी खाना पहुँचती है। मिचनी कंडाव से आगे का मार्ग और दूर तक का खुला दृश्य दीखता है जिस में तूरखम का टीला ही थोड़ा अवरोध करता है। पश्चिम जाती हुई घाटी क्रमशः उत्तर-पश्चिम को मुड़ती है, अतः मिचनी की अपेक्षा उस के दूसरी (दक्षिणी) पार पिसगाह के दुर्ग से अधिक दूर तक का स्पष्ट दृश्य दीखता है। वहाँ से शेराबाद की अफ़गान छावनी और उस से आगे काबुल नदी की दून के फलों के बाग भी दीखते हैं।

* * *

उतार कुछ हल्का हुआ, थोड़ी-सी सीधी दौड़ लगा कर गाड़ी एक सराय के सामने से दाहिने को मुड़ी ही थी कि ज़ोर से ब्रेक लगा कर रोक दी गयी। दायें को उसी अभ्रक-से पपड़ीले पत्थर का छोटा-सा टीला, बायें

को झरने के पार सीधी पसली का गर्वीला काला पर्वत शृंग जिस के अध-बीच मे एक चूने की-सी रेखा तनिक आगे आ कर कँटीली तार बन गयी है। सँकरीली सड़क के ओर-छोर गड़े हुए दो कँटीली तारों से मढ़े खम्भे; परले ठिये में कँटीली तार के वाड़े में कांधे-बन्दूक एक अजनवी सन्तरी,—वरले ठिये के पास मोटी सुई-सा दुम्मट और उस के बराबर कँटीली तार के ऊपर झांकती, बे-शऊर विज्ञप्ति—भारत का सीमान्त. . .



'फ्रंटियर आफ़ इंडिया: ट्रैवेलर्स आर नाट परमिटेड टु पास दिस नोटिसबोर्ड अनलेस दे हैव कम्प्लाइड विद द पासपोर्ट रेगुलेशंस।'

(भारत की सीमा: यात्रियों को इस विज्ञप्ति से आगे बढ़ने की अनुमति नहीं है जब तक कि उन्होंने पासपोर्ट के नियमों की पूर्ति न कर दी हो।)

जहाँ सब कुछ कँटीला है, वहाँ देह भी कंटकित क्यों न हो आये? यायावर बहुत देर तक सारे दृश्य को देखता रहा। फिर उस की आँखें

तूरखम के गर्वीले श्यामल उभार पर केन्द्रित हो आयीं। यह हमारे देश का मर्यादा-पर्वत है, देश की सीमा उस की मर्यादा है और सीमा की रक्षा देश की मर्यादा की रक्षा है... चुपचाप खड़े-खड़े यायावर के मन में फिर रोयरिक के उस चित्र की याद ताज़ी हो आयी—इस दृश्य में 'घर' नहीं है, लेकिन उसे आँख भर देख कर हृदय में बसा लो, क्योंकि उस के कारण ही घर जहाँ हैं वहाँ घर हो सके हैं—वह मर्यादा जो है... और यह सोचते हुए उस के भीतर युगों के संस्कार, शताब्दियों की सांस्कृतिक परम्पराओं के तार, धीरे-धीरे स्वनित हो उठे; भारत का भारतत्व, उस का प्राणतत्व बोलने लगा। भारत, नीचे क्षितिज-स्पर्शी असीम सागर से वेष्टित और ऊपर नभ-चुम्बी हिमालय के अंचल से छादित, जिस की अपनी सीमाएँ छूती हैं एक खड़ी परा-सीमा को और एक पड़ी परा-सीमा को; जो भा-रत हो कर आलोक की खोज में लवलीन रहा है और जिसने कहीं से भी आती हुई प्रज्ञा-किरणों को स्वीकार किया है और अपने विमल मानस में धारण कर के और चमका दिया है, जिसने अनेकता में एकता पायी है क्योंकि वह अपनी एकता में अनेकों को अपना सका है, सह सका है—'प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्!'

और जो आगे भी सह सकता है, जो आगे भी अनेकता में एकता को उद्‌भावित कर सकता है क्योंकि वह एकता में अनेकता को पनपने दे सकता है, जैसे एक उद्यान में अलग-अलग आलवालों में अलग-अलग पौधे, अपने-अपने मालंच पर आधारित नाना-रूप लताओं के गुल्म बढ़ते, फूलते और फलते हैं... भारत की संस्कृति एक जड़ धातु-पिंड नहीं है, फिर चाहे वह धातु स्वर्ण ही क्यों न हो, वह निधि है जिस की मंजूषाओं में नाना रत्न संग्रहीत हुए हैं, और होते रहेंगे; वह एक परम्परा है जिस में मानव का ज्ञानालोकित उद्योग कड़ी-कड़ी जोड़ता रहा है, और जिस का सजीव प्रसार काल के विस्तार को कौली भर कर भेंटने की स्पर्धा करता है...

इस से क्या कि इस मर्यादा पर्वत का नाम तूरखम है? इस से क्या कि उस से भी उपरली तरफ़ जो गान्धार-युगीन दुर्ग है वह आज काफ़िर-

कोट नाम से प्रसिद्ध है, जब कि जिस काल में उस का निर्माण हुआ होगा, उस में कुफ़्र की उद्भावना करनेवालों का ही आविर्भाव न हुआ था, और अफ़गानिस्तान और रूस के शिखरों का सिंहावलोकन करने वाला वह दुर्ग षड्पारमिताओं की साधना का प्रतीक था, जिन में सर्वश्रेष्ठ है प्रज्ञा-पारमिता? उठना और गिरना, बनना और मिटना, पाना और खोना, हर पारमिता की साधना में निहित है, किन्तु अनुभव की लौ के लिए यह सब ईंधन है; इस समिधा से वह पूताग्नि प्रज्वलित होती है और मानव पारमिताओं के निकटतर पहुँचता है। जो बढ़ता है वह पत्ते झारता ही है, केंचुल छोड़ता ही है, चोला बदलता ही है, द्विदल फोड़ता ही है...

'मैं वह हूँ जिसने आरम्भ किया,
मुझ से युग प्रसूत होता है,
मुझ से ही पुरुष और परमेश्वर,
मैं एक और सम्पूर्ण हूँ:
परमेश्वर बदलता है, और पुरुष, और उन के रूपाकार बदलते हैं,
मैं प्राण तत्व हूँ ।

'मुझसे ऊपर या आगे
जाने का मार्ग नहीं है,
मुझे प्रेम करो या अप्रेम
जानो या न-जानो,
मैं ही हूँ जो मुझे प्रेम या अप्रेम करता है, जानता या न जानता है ।
मैं आक्रान्त हूँ और मैं ही आक्रमण भी ।
'मैं वह वस्तु हूँ जो पुनीत बनाती है—
मेरी साँस क्षान्ति है,
मेरा ही स्पर्श सहलाता है
अरूप हाथों से
मेरे अजात अंगों को जिन का व्यास सीमाओं को नापता है
भाग्य के विस्तार की ।

. . . .

'विश्वास एक रूढ़ि है,
राजमुकुट तामस है,
ईश्वर एक यही बात है—
पूरी सामर्थ्य के साथ मानव होना :
प्राणों के सम्पूर्ण बल के साथ सीधा विकसित होना, प्रकाश की
तरह जीना ।
'मैं तुझ में हूँ तेरी रक्षा के लिए
यह मेरा स्वर तेरे भीतर बोलता है :
तू दे, जैसे कि मैंने तुझे दिया है
अपना जीवन-रस और अपने प्राण,
अपने कर्म के हरित पत्र, अपने ज्ञान के शुभ्र सुमन, और अपनी
मुक्ति के लाल फल ।

. . . .

'मैं हूँ वह बहुमूल तरु
जो आकाश तक फैलता है,
लाल फलों की झालर वाला
जीवन-तरु मैं हूँ,
तेरे जीवन के कोरकों में भरता है मेरी धमनी का रस,
जीवन मेरा है ।
'किन्तु तेरे बनाये हुए देवता
जो लेते हैं और देते हैं,
जिन की कृपा और अकृपा
हँसती और डँसती है,
ये कीड़े हैं जो पलते हैं झरे हुए वल्कल में, इन की मृत्यु है,
जीवन नहीं ।
'मेरा भार दुर्वह है
जितना तू जान सकता है, उस से अधिक,
और मेरे विकास का कोई पुरस्कार नहीं

स्वयं उस विकास के अलावा

किन्तु मैं स्खलित नहीं होती विकास के पथ से,

न ऊपर कड़कते वज्र से, न नीचे कुलबुलाते कृमि-कीट से !

स्विनबर्न के पृथ्वी-स्तोत्र के पद यायावर के मन में गूंजते रहे—इसे उसने बन्दी जीवन के एकान्त में बीसियों बार पढ़ा था और प्रायः पूरी कविता उसे कंठस्थ थी...

*　　　　*　　　　*

क्या यह यात्रान्त है ? नहीं। हरी-भरी पहाड़ी सर्वत्र मिल सकती है, किन्तु वह सर्वदा आगे रहती है; और मानव पंचीभूत हो कर ही उसे आत्मसात् करता है, उस का सुर पृथ्वी के सुर में लीन होता हुआ कहता है कि मैं ही वह हरी पहाड़ी हूँ—

'मैं हूँ कर्म और कर्ता, बीज और कृषक, मैं वह पुनीत धूल जो ईश्वर है !',

और इस प्रकार तूरखम से गाड़ी फिर वापस मुड़ी, और टायर फिर घूमने लगा। लंडी कोतल से चाय पी कर चले तो दिन छिप गया था। रात में खैबर पार कोई नहीं जाता और दल में कोई स्त्री हो तो दिन में भी ब्रितानी अफ़सर शस्त्र-सज्जित रक्षक टुकड़ी साथ लेते हैं; पर यायावर तो अजातशत्रु होते हैं...

यथा द्यौश्च पृथ्वी च न बिभीतो न रिष्यतः
एवा मे प्राण मा बिभेः ।
यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥
यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः
एवा मे प्राण मा बिभेः ।
यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥

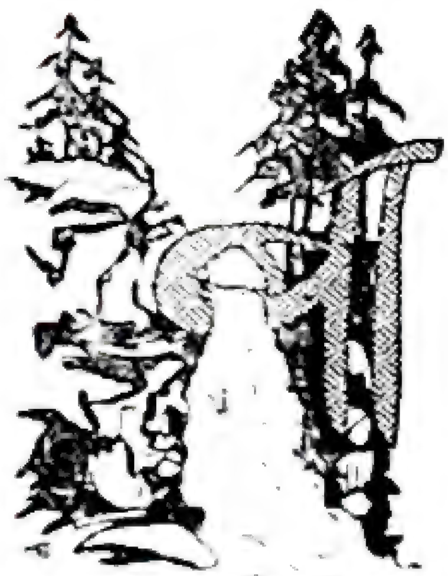
ऐसे ही मेरे प्राण निर्भय हों,—यह प्रार्थना भी है और आशीर्वाद भी है।

किरणों की खोज में



धुआँधार प्रपात

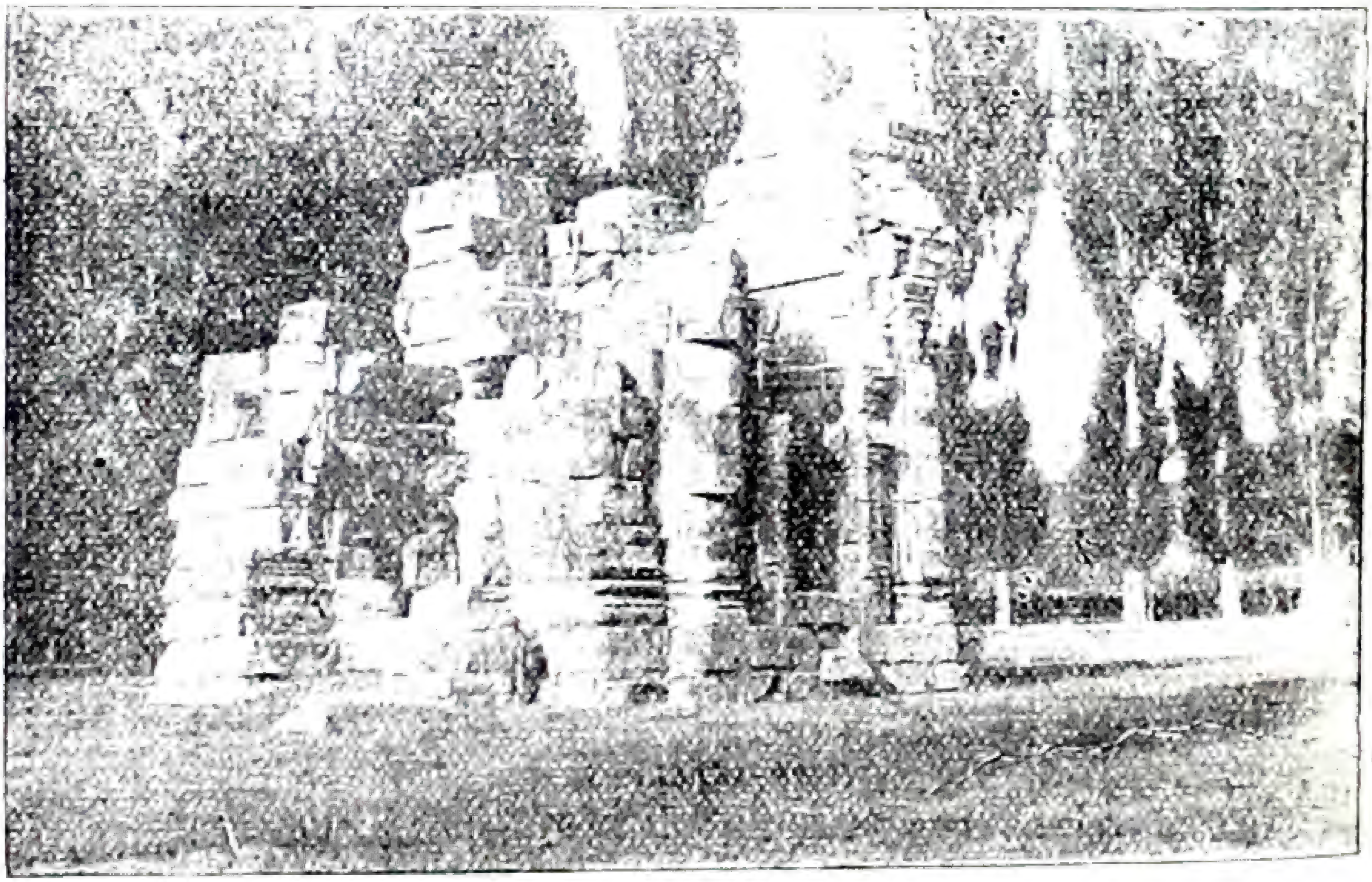
[पृष्ठ ८१ के सम्मुख



बाल्यावस्था में अंगरेज़ी लेखक राइडर हैगर्ड का एक रोमांचक उपन्यास पढ़ते हुए जब नायक के विषय में की गयी किसी की भविष्यवाणी पढ़ी थी कि 'डेथ विल कम टु हिम स्विफ़्टली ओवर द वाटर्स', अर्थात् जलविस्तार के पार से उस का काल द्रुत वेग से आयेगा,—तब एक सनसनी शरीर में दौड़ गयी थी। उस समय नहीं जान पाया था कि क्यों, और पीछे ग्रह-फल में यह पढ़ कर भी कि पानी से संकट है, इस बात का कोई सम्बन्ध जलजात दुर्घटनाओं की चर्चा से होने वाले रोमांच के साथ नहीं जोड़ा था। पर अब जानता हूं कि जल के साथ जीवन के बहुत से अनुभव—कुछ प्रिय, कुछ अप्रिय, पर सभी स्मरणीय—सम्बद्ध हैं। और जिस अभियान की बात आज याद कर रहा हूं, उस की तो एक-एक स्मृति पानी से भींगी हुई है—पानी कभी चंचल फेनोर्मिल, कभी निष्कम्प गम्भीर, कभी आकुल वाष्पायित, कभी कलकल प्रपतित, कभी असंलग्न हिमवेष्टित नीरव... यद्यपि उस की योजना में जब विश्वविद्यालय के वैज्ञानिक अन्वेषी दल की सदस्यता सहर्ष स्वीकार की थी, तब विद्यु-दर्शक-अन्वीक्षक-प्रकाशचित्र ग्राहक यन्त्रों के मरुस्थल में पानी की कुल्या की झांई तक न दीखी थी।

किन्तु, बात लाहौर से आरम्भ करना व्यर्थ होगा। वहां से कार्यक्रम निर्धारित कर के चला था अवश्य, पर रावलपिंडी-कोहमरी-दुमेल होता हुआ कश्मीर पहुँचा था सैलानी के रूप में ही। दुमेल में बस रुकी तो आगे चलने का तनिक भी आग्रह न किया था, बल्कि रात वहीं ठहरने की सलाह दी थी (गाड़ी माल ले जा रही थी, सामने की सीट पर अकेला सवार था)। नया-नया विज्ञान का ग्रेजुएट था,—विद्यार्थीगिरी की आदतें छोड़ कर नौकरी के उम्मीदवारों की टीमटाम करने की बात अभी सूझी

ही न थी; दुमेल के डाकबँगले का मार्ग न पूछ रस्सों के पुल से झेलम-पार मुज़फ़्फ़राबाद में गुरुद्वारे में रात काटी (गुरुद्वारे के किरपानधारी खटमलों का पता तो देर रात को चला जब भाग खड़े होना सम्भव न था!) और फिर वेगवती कृष्णगंगा में स्नान कर के बस में जा बैठा। झेलम के साथ लुका-छिपौवल करती सड़क पर उड़ी-बारामूला पार कर, पाटन के मन्दिर के पास से गुज़रते हुए, और मन-ही-मन राह से कुछ



पाटन का मंदिर

दूर शादीपुर की सड़क पर परिहासपुरा के बौद्ध अवशेषों की याद करते हुए, अपराह्ण श्रीनगर पहुँच गये। श्रीनगर और आसपास का प्रदेश बचपन का परिचित था; श्रीनगर के लिए विशेष उत्साह बचपन में भी नहीं रहा था और अब जब आ कर देखा कि तब की बड़ी-बड़ी चीज़ें छोटी-छोटी लगने लगी हैं, पहले की नौ सौ निन्नानवे गन्धों का स्थान अब तक

एक हजार एक गन्धों ने ले लिया है, हतबियों के चेहरे कम उजले और पैरहन कहीं अधिक मैले हो गये हैं, और जो कमल के फूल पहले यों ही लुट कर एक 'शिरसा-धार्य' विभूति रहते थे, अब बिकने लग कर हेच हो गये हैं—तब बची-खुची स्फूर्ति भी जाती रही। केवल एक उदास नगी जगह जिस की पुकार की प्रेरणा अब भी दुर्निवार है, फिर जा देखी—हरमुख शृंग की अधित्यका पर बना हुआ परीमहल, जिसने अपने को चारों ओर से दीवारों में समेट कर आकाश के प्रति खोल दिया है, और जिस के आगे श्रीनगर का सारा सौन्दर्य बिछ गया है . . कवयित्री बेगम जेबुन्निसा का यह महल[1]—(परीमहल यों जलविहार के लिए बना होगा, वहाँ जलप्रणालियों के अवशिष्ट अभी हैं, यद्यपि पानी का निशान भी नहीं रहा, और बहते पानी का कल-कल कितना सान्त्वनाप्रद होता है, इस की गवाही अनेकों कवि देते हैं।[2]) कभी कितने चाव के साथ बनवाया गया होगा—आसपास के सजे-सजीले रूप से उतना ही पृथक् जितना कि अन्तर्मुखी जेबुन्निसा अपने परिमंडल से पृथक थी—वैसा ही पृथक्, और वैसा ही रूप-प्रसार को तटस्थ भाव से ग्रहण करने की शक्ति के कारण सुन्दर! यह सूखा परीमहल, जहाँ प्यास मिटाने के लिए पानी नीचे से साथ ले जाना पड़ता है; और सामने फैला हुआ पानी—पानी—पानी! क्या यह

१ ऐसा सुना है, यद्यपि इस प्रसिद्धि की ऐतिहासिकता की पड़ताल नहीं की।
२ जेबुन्निसा ('मख़्फ़ी') ने लिखा है

ऐ आबशार नौगहार अज बहरे चीस्ती
चों बर जिबी फ़िगंदा ज़ि अंदोह कीस्ती
आया चि दर्द बूद कि चूँ मा तमाम शब
सर ए ब-संग मीं ज़दी ओ मी गरीस्ती!

ऐ निर्झर! तू क्यों रोता है, क्यों तेरे माथे पर व्यथा की रेखाएँ खिंच गयी हैं? तुझे ऐसा कौन-सा दुःख है कि मेरी ही भाँति रात-भर पत्थरों पर सिर पटक-पटककर रोता रहा है?

विडम्बना है ज़ेबुन्निसा के अपने अतृप्त जीवन की, जो भीतर भावनाओं का सम्पन्न संसार लिये हुए बाहर केवल आह भर कर कह सका :

हमदमे गर नेस्त ऐ दिल, रोज़े-मेहनतगो म बाश
यूनिसे ज़िंदानिया रा बहतर अज़ दीवार नेस्त !
लज़्ज़ते-दर्दे-मुहब्बत रा ज़िबेदरदाँ मपुर्स
क़दरे-सेहतरा नदानद हर कि ओ बीमार नेस्त !
जादमे दरदंमो अज़ ख़ूने जिगर परवरदा ऐम—
कोह हा-ए-ग़म अगर आयद मरा आज़ार नेस्त !

तेरा अगर कोई साथी नहीं है तो, ऐ मेरे दिल ! चिंता न कर। बन्दी-गृह में दीवारों से अच्छा नातेदार और कौन होगा ! प्रेम की व्यथा का आनन्द उन से न पूछ जो बेदर्द हैं। जो बीमार नहीं वह स्वास्थ्य का मूल्य क्या जानेगा ?

वेदना से मैं जनमी, और जिगर के ख़ून पर पली; सामने अब दुःख के पहाड़ भी हों तो मुझे क्या डर !

उस के बाद श्रीनगर छोड़ कर सीधे गुलमर्ग की राह पकड़ी। वास्तविक अभियान यहीं से आरम्भ होता है।

* * *

गुरुपत्नी ने हँस कर कहा, "मैं तो यह बिलकुल नहीं मानती कि तुम इन के अनुगत हो कर आये हो और इन के नेतृत्व में अन्वेषण करने जा रहे हो। मैंने तो इन्हें तुम्हें सौंपा, और तुम से वसूल कर लूँगी।"

मैंने कहा, "आप निश्चिन्त रहें, मैं गुरु की भरसक सेवा करूँगा।"

उन्होंने फिर कहा, "उँहुक् ! तुम इन्हें आज वज़न कर के देख लो। मैं वज़न लिख लेती हूँ। और लौट कर आवें तो तौल में कम न हों, समझे ? तुम इन्हें बता दिया करना कि कब खाने का समय हो गया, कब हजामत बनाने लायक हो गयी, कब गर्म कपड़ा पहन लें, कब. . ."

गुरु जी ने व्याज-गाम्भीर्य के साथ कहा, "देखो, मरियम, यह समझेगा कि तुम्हारे तीन बच्चे हैं।"

गुरुपत्नी ने जरा भी अप्रतिभ न हो कर उत्तर दिया, "तीन क्यों, वे दोनों तो तुम्हारे हैं; मेरा तो एक ही बच्चा है, बिल्कुल भोला बाबा।" फिर मेरी ओर उन्मुख हो कर, "समझे वत्स? हो तो तुम भी इन्हीं के शिष्य, पर मैं जानती हूँ तुम्हें भौतिक-शास्त्र के बाहर की भी बहुत-सी बातों में रुचि है।"

यहाँ गुरु-दम्पति का कुछ अधिक परिचय दे देना उचित होगा। प्रोफेसर ब--मेरे भौतिक विज्ञान के अध्यापक रहे। भौतिक विज्ञान के अतिरिक्त मिशन संस्था में सम्बद्ध होने के नाते उन्हें ईसाई धर्म-शिक्षा के लिए भी कुछ वर्ग लेने पड़ते थे, और मैं भी उन्हीं के वर्ग में था, पर उन्होंने हम में से कभी किसी से अपने-अपने धर्म से अलग किसी ईसाई धर्म के सिद्धान्तों की बात कही हो, ऐसा मुझे याद नहीं। इस के प्रतिकूल राधाकृष्णन् के 'हिन्दू-जीवन-दर्शन' का विशद और सटीक अध्ययन हम लोगों ने उन की 'बाइबल क्लास' में ही किया, वहीं कुङफ़ूत्से और लाओ-त्से, बुद्ध और शंकर, पास्काल और स्पिनोज़ा के विचार-दर्शन से परिचय प्राप्त किया। 'अपने धर्म का विवेकपूर्ण अनुसरण ही सच्ची ईसाइयत है', ह वह प्रायः कहा करते थे। कभी-कभी यह भी कहते कि 'मुझ से आशा की जाती है कि मैं अधिकाधिक ईसाई बनाऊँगा। अभी मैं नहीं जानता कि तुम में से कौन ईसाई है और कौन नहीं, पर अगर कभी कोई धर्म बदल कर मेरे पास आयेगा तो इतना मैं जान लूँगा कि कम-से-कम यह ईसाई नहीं है।' प्रायः उन की 'बाइबल क्लास' में लाहौर आने-जाने वाले वैज्ञानिक आ कर आधुनिक दार्शनिक विचारों और ऊहा-पोह का कुछ परिचय हमें दे जाया करते। डाक्टर (अब सर) शान्तिस्वरूप भटनागर के 'द थर्मोडायनेमिक्स आफ़ गॉड' पर किये हुए दो-तीन भाषणों से उत्पन्न होने वाली हलचल मुझे अब भी स्मरण हो आती है। गुरुजी ने ईसाई मत की व्याख्या की थी तो केवल 'प्रातिनिधिक शोध'[२]

---

२ ईसाई धर्म का यह सिद्धान्त कि एक के पाप की शुद्धि दूसरे की तपस्या अथवा कष्ट-सहन द्वारा हो सकती है,--जिस का ज्वलन्त उदाहरण मानवता के पाप-मोचन के लिए ईसा का सूली को वरण करना है।

के सिद्धान्त की, जिसे वह मानव-जीवन का एक महान् सत्य मानते थे और जो उन की समझ में अहिंसा के सिद्धान्त का मूलाधार था।

किन्तु, भौतिक विज्ञान का शोध उन के जीवन की साधना थी। सत्य की खोज और निर्धारण के प्रति उन की उत्कट लगन ने ही एकाधिक वार उन के स्वास्थ्य को चौपट कर दिया था, और फिर उसी की तन्मयता ने यक्ष्मा से उन्हें उवार लिया था, यद्यपि उस की छाप उन के फेफड़ों पर रह गयी थी... उन के छरहरे शरीर में अपरिमित स्फूर्ति थी, पर चेहरा सदा खोया-सा रहता था, और विचारों की उलझन में उन्मन रहने का एक लक्ष्य परिणाम यह हुआ था कि उन की दाहिनी भौंह सदा वायीं से ऊँची रहती थी और एक तिरछा वल माथे पर सर्वदा पड़ा रहता था।

यों तो गुरुजी सर्वदा प्रयोगशाला या यन्त्रशाला में कुछ बनाते-बिगाड़ते रहते थे; पर भौतिक विज्ञान में उन की विशेष रुचि थी वैद्युतिक किरणों की ओर। मैंने जब भौतिक विज्ञान में आनर्स के लिए विशेष अध्ययन का विषय निर्दिष्ट कर देने को कहा, तब पहले उन्होंने मुझे बेतार-किरणों का विषय दिया (जिस के लिए मैंने लाहौर के विभिन्न स्थानों में साथ-साथ चुम्बकीय आकर्षण और बेतार-यन्त्र की ग्राहकता के नाप लिये और उन की परस्परता की छान-बीन की); फिर—कदाचित् मेरी परिश्रमशीलता के बारे में आश्वस्त हो कर—अपने विशिष्ट विषय कॉस्मिक किरणों पर कुछ काम करने को कहा। परीक्षाकाल में टायफ़ॉयड से पीड़ित होने के कारण आनर्स की व्यावहारिक परीक्षा में मैं न सम्मिलित हो सका। किन्तु, मेरे कार्य से सन्तुष्ट हो कर उन्होंने परीक्षा के बाद मुझे अपने सहकारी का काम दिया। वह कई वर्षों से डाक्टर काम्प्टन (अनन्तर नोबेल पुरस्कार-विजेता) के साथ कॉस्मिक किरणों का शोध कर रहे थे, और उसी के लिए एक वर्ष पूर्व डा० काम्प्टन के साथ कश्मीर जा भी चुके थे। इस वर्ष डा० काम्प्टन अमरीका में ऊँचे तल पर वायुमंडल में माप ले रहे थे (गुब्बारे आदि के द्वारा), और पानी की गहराइयों में माप लेने का काम मेरे गुरुजी के सिपुर्द था। वर्ष भर वे यन्त्रादि तैयार करते रहे थे,

अब पंजाब विश्वविद्यालय ने साहाय्य रूप में वैज्ञानिक सामान की ढुलाई का खर्च उठाने का वचन दिया था। यन्त्र बनाने आदि के लिए शिकागो विश्वविद्यालय ने सहायता दी थी। अब केवल अपने-अपने मार्ग-व्यय और खाने-पीने की बात थी, सो उस की चिन्ता उन्हें थी ही नहीं; और मैं भी साथ जाने को राजी ही नहीं, उत्सुक भी था। इसी लिए मैं पहले से कश्मीर चला गया था; यही ठहरा था कि वह गुलमर्ग के नीचे टंग-मर्ग में सप्ताह भर विश्राम कर लेंगे और जब चलेंगे वहीं मैं आ मिलूंगा।

इस परिचय से गुरुपत्नी की चिन्ता का कारण स्पष्ट तो नहीं होता, पर उस का कुछ संकेत तो मिल जाना चाहिए। गुरुजी धुनी थे, ऐसे धुनी कि उन्हें सनकी कहा जा सकता है। काम में उन्हें खाने-पीने का होश न रहता। कपड़े उन के अच्छी काट के होते, जिस का श्रेय पत्नी को था; पर कालेज में कभी वह अनजाने टाई ढीली कर लेते तो वह खुली ही लटकती रहती; मोजे वह प्रायः उलटे या बेजोड़ पहनते। दोपहर को खाने की छुट्टी में वह खाना मेज पर रख कर भूल जाते। उन दिनों उन्होंने एक विद्युत्-घड़ी बनायी थी और इस धुन में थे कि वह केवल एक निर्दिष्ट समय पर नहीं, वरन् प्रत्येक 'पीरियड' के बाद एलार्म बजा दे—जिस दिन ५५ मिनट का पीरियड हो, उस दिन प्रत्येक ५५ मिनट पर; जब ४५ का हो तब ४५ मिनट पर; ३५ का हो तो वैसे ही। और जिस दिन कालेज की छुट्टी होती और घंटे न बजते, उस दिन घर जाने की ही सुध न रहती, और प्रायः पत्नी आ कर लिवा ले जाती। उन्मन इतने रहते कि गणित के बुनियादी सिद्धान्त भूल जाया करते, साधारण अंक-गणित के लिए भी 'स्लाइड रूल'[४] बरतते और उस के द्वारा ८ × ८ = ६३.९९ पा कर हम लोगों के हँसने पर जरा भी विचलित न होते, क्योंकि 'वैज्ञानिक तथ्य क्या है? निकट अनुमानों की परम्परा'!

४ पट्टियाँ, जिन की सहायता से गणित की प्रक्रियाएँ सीधे-सीधे न कर के अंकित लघु-गणकों के द्वारा सिद्ध कर ली जाती हैं। इन में उसी सीमा तक सन्निकटीकरण होता है जिस तक कि गणक में रहा हो।

इन विशुद्ध वैज्ञानिक धुनों के अतिरिक्त उन्हें और व्यावहारिक धुनें भी थीं। एक पुरानी 'इंडियन' मोटर-साइकल उन के पास थी, जो बहुत सुश्रूषा चाहती थी, और पाती भी थी। इसे ले कर गुरुजी जब-तब कबाड़िये के यहाँ यन्त्रों के पुरज़े और अन्य काम का सामान खरीदने जाया करते थे। लाहौर के सब कबाड़िये उस 'वहमी अमरीकन' को जानते थे। कबाड़ी के यहाँ से टाइमपीस ला कर उन्होंने एक घड़ी-कैमरा वैद्युतिक मापन के लिए बनाया था, कबाड़िये से लेंस ले कर दूरवीक्षक, कबाड़िये से किरमिच के टुकड़े खरीद कर अपने हाथों सी कर छोटे-बड़े तम्बू-छोलदारी (पीछे हम इसी में रहे, और एक तम्बू माँग कर मैं बाद में और स्थानों पर भी अकेला घूमा), कबाड़िये से पुराने रबर के थैले ले कर तैरने वाले गद्दे (ये भी अनन्तर काम आये), एक छोटी बन्द होने वाली नाव, और अन्य कई चीजें. . . अनन्तर परिचय घनिष्ठ होने के बाद मैं ने गुरुजी से उन के जीवन के बहुत से अनुभव जाने और उन से शिक्षा ग्रहण की। उन्हीं से सीखा कि सर्दी बहुत हो और कम्बल न हो तो दो (चाहे पतली) चादरों के बीच में अखबार की तह दे कर ओढ़ ले, काम चल जायगा। उन्होंने कैनाडा के एक काठ-गोदाम में लकड़ी ढोने का काम कर के अपने पढ़ने के साधन जुटाये थे, वहाँ तो सर्दी में यही युक्ति काम देती थी;—बुरादे पर अखबार बिछा कर सोते, एक कम्बल और चादर की तह में अखबार दे कर ओढ़ते। उन्हीं से जाना और फिर परीक्षा कर के देखा, कि साँप को निहत्थे मारने का उपाय यह है कि निष्कम्प फुर्ती से उस की पूँछ पकड़ कर झटक दे, इस से उस की दुर्बल रीढ़ की कड़ी-कड़ी अलग हो जाती है; पर ज़रा-सी झिझक घातक हो सकती है। यह युक्ति उन्होंने अमरीका के मरु-प्रदेशों में सीखी थी, जहाँ विषैला 'झुनझुनिया' साँप (रैट्लस्नेक) बहुत होता है।

एक बात उन से और सीखी वहीं टंगमर्ग में। इसी लिए यहाँ उल्लेख कर देता हूँ, नहीं तो वह अप्रासंगिक है। मेरे जाने के दूसरे दिन वह मुझे ले कर मोटर के अड्डे पर गये—उन्हें एक चिट्ठी श्रीनगर भेजनी थी और डाक में छोड़ने से देर न हो इस लिए किसी को दे देना चाहते थे।



फिरोजपुर नाले से नंगा पर्वत का दृश्य

मोटर में एक आदमी को पत्र दे कर उन्होंने उसे श्रीनगर पहुँच कर डाक में डालने को कहा—वहाँ से वहीं पत्र उसी दिन बँट जायगा। यात्री ने पत्र ले कर जेब में डाल लिया, तो उस से फिर बोले, 'इसे सँभाल कर रख लीजिएगा—इस में बीस रुपये के नोट हैं। मैंने श्रीनगर से कुछ सामान ज़रूरी मँगाया है, दूकान को आर्डर और रुपये भेज रहा हूँ।"

यात्री ने पत्र बाहर की जेब से निकाल कर अन्दर की जेब में रख लिया और कहा, "आप बेफ़िक्र रहें, मैं एहतियात से चिट्ठी डाल दूंगा।" मोटर चली गयी।

मैंने गुरुजी से पूछा, "उसे यह बताने की क्या ज़रूरत थी? वह चिट्ठी न डाले—खोल ले तो?"

"मेरी चिट्ठी अवश्य पहुँच जायगी।"

"मुझे तो सम्भावना नहीं दीखती। एक तो यात्री यों ही चिट्ठी डालना भूल सकता था, फिर आप ने उसे बताया कि उस में रुपये हैं। फिर चिट्ठी भेजी है दूकान को। वह कहे कि चिट्ठी नहीं मिली तो क्या सबूत? या कि चिट्ठी मिली और उस में रुपया नहीं था तब? बल्कि यह तो सचमुच हो सकता है—अगर यात्री निकाल ले तो! तब आप जान ही न पावेंगे कि उड़ाया किस ने!"

"मैंने तो बता देना ठीक समझा। मानव का विश्वास करना चाहिए।"

"हाँ, लेकिन धोखा तो हो ही सकता है।"

"जिस का विश्वास न करें वह धोखा दे सकता है। विश्वास पा कर धोखा देना आसान नहीं है।"

"आसान न सही; पर आप का रुपया निश्चय ही गया अब।"

"तो जाय। रुपया कभी-कभी ही जायगा, हमेशा नहीं। फिर एक बार रुपया खो कर मुझे अधिक-से-अधिक तीन दिन दुःख होगा, और क्या? मगर मानव में विश्वास खो कर तो सारा जीवन दुःखी हो जायगा, यह तुम नहीं सोचते? लेकिन तुम देखना, रुपया खोयेगा नहीं।"

मैं चुपचाप उन के मुँह की ओर देखता रहा। भीतर कहीं, मन ने उन की बात पकड़ ली, गाँठ बाँध ली।

चौथे दिन श्रीनगर में उन की चिट्ठी मिली, जिस में यह भी लिखा था कि उन का मंगाया हुआ सब सामान ठीक समय पर पहुँच गया है।

*　　　　*　　　　*

टगमर्ग से घोड़ा ले कर गुलमर्ग, फ़िरोजपुर नाला और खिलिनमर्ग देख आया, और नंगापर्वत के विराट् सौन्दर्य की झांकी भी ले आया। गुलमर्ग अच्छा स्थान होता अगर वह विदेशियों द्वारा यों उपनिविष्ट न हो गया होता——कोई बात है कि वैसे स्थान के आकर्षणों में होटल, गॉल्फ़, टेनिस, नृत्य आदि सब गिनाये जायें, और फ़िरोजपुर घाटी के चीड़वनों, खिलिनमर्ग के हिमावेष्टित सरोवर और नंगापर्वत की भव्य रूप-श्री की उपेक्षा हो जाय! फ़िरोजपुर नाले के एक-एक प्रपात का रूप दर्शनीय है और कलकल मनःस्फूर्ति देने वाला...

श्रीनगर में अपनी आवश्यकताओं की सूची बना कर सामान जुटाना आरम्भ किया। अनुमान था कि तीन सप्ताह का अभियान होगा, आने-जाने का एक सप्ताह जोड़ कर एक मास की व्यवस्था आवश्यक थी सो पाँच सप्ताह के लिए ले रहा था। डिब्बे का जो सामान मिलता था——मटर, गाजर, नाना प्रकार के सूप, दूध, पनीर, मक्खन, घी, फल——वह तो लिया ही,——सूखे फल और मेवे, आलू, छोटे टिकाऊ सेब ('तरेल'), कच्ची रसद——आटा, दाल, चावल, चीनी, आदि भी उचित अनुपात में ले लिये। सफ़री सामान——खाट, मेज, कुर्सी, लालटेन, मोमबत्तियाँ, घासलेट, बरसातियाँ लीं। तम्बू तो थे ही; खानसामा के लिए छोलदारियाँ, दो स्टोव, बर्तन आदि। कैमरा भी लाया था, गुरुजी के पास भी था। वैज्ञानिक यन्त्रादि पहले से तैयार रक्खे थे; किरमिच की नाव भी।

किन्तु वैज्ञानिक अभियान के लिए और भी व्यवस्थाएँ करनी पड़ती हैं। कोंसरनाग तक——जो हमारा लक्ष्य था——जाने के लिए शुपियाँ तक सड़क

है, मगर पुल सब कच्चे हैं, उन पर मोटर चलाने का 'परमिट' लेना था। शुपियाँ से पैदल या घोड़े पर जाते हैं। घोड़े और कुली तो नहीं मिलेंगे, किन्तु तहसीलदार के नाम परवाना ले जाना होगा।

इस के लिए मालूम हुआ कि श्रीनगर के गवर्नर से मिलना होगा। राजधानी में राजा की विद्यमानता में गवर्नर क्या करता है, नहीं जानता था। पर रियासतों में अधिकारी काम करते को ही हों ऐसी कोई बाध्यता नहीं होती, यह जानता था। किन्तु, डेढ़ घंटे तक गवर्नर महोदय को इस वैज्ञानिक अभियान का प्रयोजन समझाने की चेष्टा कर के भी कोंसरनाग जाने की आवश्यकता सिद्ध न कर सका। क्या और कहीं कोई झील नहीं है, या कि समुद्र में गहरा पानी नहीं है, यों तो पानी के नीचे किरणें नापने में ही क्या तुक है, और विदेशी साइंसदाँ क्या कह कर क्या करते हैं इस का क्या भरोसा! हाँ, स्वयं यह जान सका कि गवर्नर वास्तव में जिला मजिस्ट्रेट का काम करने वाले अधिकारी हैं और शासन-सूत्र सर्वत्र दीर्घसूत्र होता है; उस की ऐंठन के प्रकार बदल सकते हैं, पर उस की दीर्घता नहीं। अन्त में मोटर शुपियाँ तक ले जाने की अनुमति तो मिली, पर "वैज्ञानिक मंडल" के लिए नहीं, सैलानियों के दल के लिए (जिस की पड़ताल की आवश्यकता न पड़े) और इस शर्त के साथ कि प्रत्येक पुल पार करने से पहले मोटर खाली की जायगी और पार जा कर फिर लादी जायगी। (इस शर्त का हमने पाँचों-छहों पुलों पर पालन किया, केवल एक पर पूरा सामान न उतार कर केवल सवारियाँ और उन का निजी सामान उतारा गया था।)

क्रमशः पूरा दल श्रीनगर में एकत्र हो गया। गुरु-शिष्य के अतिरिक्त दो व्यक्ति इस में और थे—एक रसायन-शास्त्र के प्रोफ़ेसर, दूसरे उन के भतीजे उद्भिज-विज्ञान के अध्येता, जिन्होंने हाल में अपने विषय में एम० एस-सी० की परीक्षा सम्मानपूर्वक पास की थी, और जिन्हें बड़े जोशी जी और छोटे जोशी जी कहा जायगा। बड़े जोशी जी कश्मीर में कुछ औषधियों की खोज के लिए आये थे और वुलर झील के पार गिलगित-

माग में गुरेज में अपना अनुसन्धान[५] पूरा कर हम लोगों के साथ मिल गये थे; छोटे जोशी जी को धुन थी कि जिस प्रकार उन के आचार्य डा० काश्यप ने हिमालय में पर्यटन कर के कई नये पौधों का पता लगाया था, जिन में एक-आध उन के नाम से अभिहित होते थे, उसी प्रकार वह भी वनस्पतियों की नयी जातियाँ खोज निकालेंगे, जिन में उन का नाम अमर हो जायगा। उन की विशेष रुचि सूक्ष्म पौधों की—काही, फफूंद, आदि—तथा अन्य उपजीवी (पैरेसाइट) और यन्त्रवीक्ष्य उद्भिजों की ओर विशेष थी, और वह यह भी सोचते थे कि भौतिक विज्ञान की खोज के साथ वह उच्च तलों के जलजात उद्भिजों पर भी कुछ अनुसन्धान कर लेंगे।

दल का पाँचवाँ सवार था खानसामा रहमत, जिन के चुनाव में विशेष परिश्रम करना पड़ा था। उस से पहले वर्ष गुरुजी डा० काम्प्टन के साथ उत्तरी कश्मीर की जिस झील पर गये थे, वहाँ उन का खानसामा बीमार हो गया था और नीचे लाते-लाते न्यूमोनिया-ग्रस्त हो कर चल बसा था, जिस से खिन्न हो कर मंडल लौट आया था। इसी लिए इस वर्ष ऐसा आदमी छाँटा गया था जो अपने काम में नौसिखिया भले ही हो, स्वस्थ और कर्रे शरीर का हो और उच्च पर्वतीय वायुमंडल को सह सके। रहमत ने खाना बनाने का अनुभव अपने पैंतालीस वर्ष के जीवन में दो-तीन वर्ष ही किया था, पर शरीर से वह स्वस्थ था, कान्ति से हँसमुख और तबीयत का फक्कड़—कश्मीरी के दर्शन का मूलमन्त्र 'कुछ फिकिर नेइ' उस ने घुट्टी में पिया था। कुछ शिकारी टोलियों के साथ बन्दूक-बरदार बन कर वह पहाड़ी अभियानों का काफ़ी अनुभव पा चुका था।

---

५ कश्मीर में आर्टिमीसिया और एफ़ीड्रा (सोम अथवा सोमकल्प) नामक दो वनस्पतियाँ पायी जाती हैं, जिन से क्रमशः सैंटोनिन और एफ़िड्रीन औषधियाँ प्रस्तुत होती हैं। सैंटोनिन कृमिनाशक है, एफ़िड्रीन श्वास रोगों की दवा है। बड़े जोशी जी इन्हीं दोनों के प्रस्तुत करने की नयी विधियों के शोध के लिए गुरेज गये थे।

इस प्रकार जुलाई के दूसरे सप्ताह के एक दिन प्रातःकाल हम लोग श्रीनगर से निकल पड़े। आरम्भ में जम्मू की सड़क पकड़ी। यह सड़क मेरी बचपन की पहचानी थी। ज्यों-ज्यों हम बढ़ते जाते, त्यों-त्यों मेरी पुरानी स्मृतियाँ उभरती आतीं और मैं मनश्चक्षुओं से सड़क के इधर या उधर की तत्काल न दीखती वस्तुओं को देखता चलता...बायें को शंकराचार्य पर्वत, जिस के शिखर पर पिंजरे-सा शिव-मन्दिर—पाणिनि जैसे 'पीर शालातूरा' हो गये हैं, वैसे ही यह पर्वत 'तख्ते-सुलेमान' हो गया है!



शंकराचार्य

—कुछ आगे दाहिने को झेलम के एक बड़े प्रायवृत्त में राममुंशीबाग के बंगले, जिन में से एक में बचपन का निर्भय अंश बिताया था—वह अंश जिस में उभरते व्यक्तित्व की विपंची को प्रकृति की अंगुलियाँ रहस्य की शत-शत मिजराबों से झंकारती रहतीं...यहीं से बायें को वह मैदान जिसे कई टेढ़ी-सीधी पगडंडियों से पार कर के गुपकार और मुग़ल उद्यानों की सड़क पकड़ा करते थे, 'छोटे रास्ते' के नाम पर पराये बगीचों में घुस कर आलूचे, आड़ू, खूबानी, गिलास, सेब, नाशपाती जो मिल जाय

चुरा कर खाते थे और कभी आहट पा कर माली के ललकारने पर भागने में गिर जाते थे और काही के हरे-पीले रंगों से सने कपड़े ले कर घर पहुँचते थे। मेरे भाई, मैं, पड़ोस के बंगले के दो बच्चे और कभी-कभी हमारी बड़ी बहन और उन की बड़ी बहन भी—यह पांच अथवा सात का गिरोह बगीचों के आसपास मौके की ताक में मंडराया करता था। प्रत्येक अपने 'निकर' की जेब में दियासलाई की खाली डिबिया में नमक, काली मिर्च और मसाला मिला कर तैयार रखता था। चोरी के फल यों तो अन्य फलों से कहीं स्वादिष्ट होते हैं, पर प्रायः कच्चे ही उपलब्ध होते हैं और कुछ बिनार-सँवार चाहते ही हैं। गिरोह की सांकेतिक भाषा में इस डिबिया को 'नमस्कारी' कहते थे—न नमक, मस् मसाला, इस का उपयोग नमस्कार; यह इस की परिभाषा थी, और जब हम लोग घूमने निकलने के पहले बड़ों को "नमस्कार" करते थे तब कनखियों से एक-दूसरे को देख कर मुस्कराते थे कि 'नमस्कार' तो अभी होगा!

और दो मील जा कर बायें को पांड्रेथन का छोटा-सा किन्तु सुन्दर शिव-मन्दिर। पांड्रेथन कदाचित् पुराणाधिष्ठान का भ्रष्ट रूप है—मन्दिर के चारों ओर बेत वृक्ष (वीपिंग विलो) मानों डालें नवा कर सहस्राधिक बरस पुराने इस अवशिष्ट को उदास प्रणति देते हैं। इस से आगे रास्ता खुल जाता है। दाहिने झेलम (वितस्ता, जिसे कश्मीरी 'वियत्थ' कहते हैं) और बायें शालिखेत—यों बढ़ते हुए हम लोग पामपुर (=पद्मपुर) पहुँचे। यहाँ के नानबाई अद्वितीय हैं। उन की परम्परागत विद्या का फल जिन्होंने नहीं चखा वे जान ही नहीं सकते कि निरी 'रोटी' भी क्या चीज हो सकती है—'बाकरखानी' और 'शीरमाल' उन की विशिष्ट कृतियाँ हैं। हम लोगों ने अपनी यात्रा के लिए प्रचुर मात्रा में दोनों ले कर रख लीं—कुछ मीठे और नमकीन कुलचे तो श्रीनगर से ही ले लिये थे। चाय के आनुषंगिक के लिए इस से बढ़ कर चीज नहीं होती।

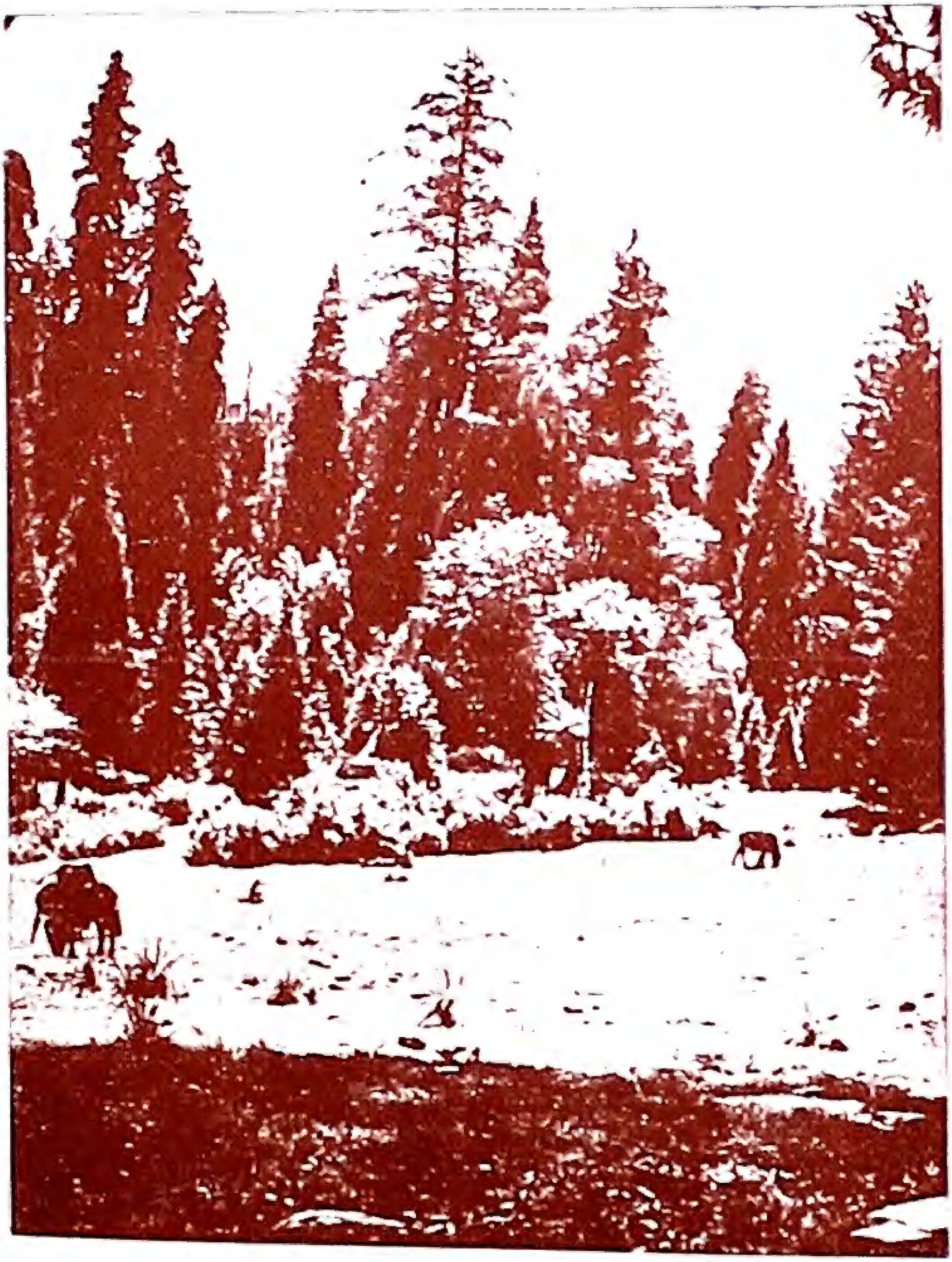
पामपुर से जम्मू वाली सड़क छोड़ी। नदी पार कर के पूर्व से दक्षिण-पूर्व जाने लगे। यह कच्ची सड़क शुपियाँ तक जाती है, जो कि पीर

पंजाल श्रेणी की उत्तरी उपत्यका में है। उधर से जम्मू आने का एक रास्ता भी है, जो पीर पंजाल और रतनपीर पार कर के नौशहरा-भीमवड़ जा निकलता है। यह मार्ग अत्यन्त रमणीक किन्तु दुर्गम है, सैलानी समुदाय इधर से नहीं जाता। कोंसरनाग पीर पंजाल का ही एक बड़ा सरोवर है। यह हम में किसी ने पहले नहीं देखा था, किन्तु नक्शा देख कर ही इसे अभियान के लिए चुन लिया गया था। इस से पहले वर्ष गुरुजी पहलगाँव से ऊपर तुलिया झील पर गये थे। वह इतनी गहरी और बड़ी न थी, यद्यपि वहाँ पहलगाँव से साहसिक घुमक्कड़ जब-तब चले जाते थे। उस की ऊँचाई भी केवल ९ हज़ार फ़ुट थी। नक्शे में कोंसरनाग की आकृति और उस के आसपास के पर्वतों के ढलाव से अनुमान हुआ कि यह बड़ी झील पर्याप्त गहरी भी होगी, और बस्ती आदि की बाधाओं से मुक्त तो वह थी ही। ऊँचाई लगभग १२ हज़ार फ़ुट थी। ऊँची और अलग-थलग झील ढूंढ़ने का कारण यह था कि वातावरण की धूल, धुएँ, धातु-कण, आसपास की इमारतों, यन्त्रों और यानों के सम्भव प्रभाव से मुक्त, विशुद्ध वातावरण में ही कॉस्मिक किरणों के स्वभाव, शक्ति, भेदकता, विकीरण आदि का अध्ययन किया जा सके।

बहुत दूर न गये थे कि रास्ते में कीचड़ आना शुरू हो गया, और पानी से ढके हुए गहरे गड्ढों के दचके लगने लगे। एक-एक गड्ढे में 'गच्च' से पहिया धँसता और हमारा हड्डी-पसली का ढाँचा हिल जाता। जोशी जी ने कहा, "इस तरह तो थोड़ी देर में जोरों की भूख लग आयेगी, पेट का तो व्यायाम हो रहा है।" गुरुजी बोले, "वाकरखानी तुम्हें खानी हो तो माँग लो, पैंतरे की क्या जरूरत है!"

इतने में एक ज़ोर का दचका लगा, थोड़ी-सी कीचड़ उड़ कर भीतर आयी और इंजन बन्द हो गया। ड्राइवर ने फिर स्टार्ट कर के गाड़ी चलानी चाही—पिछले पहिये कीचड़ उछालते हुए घूम गये, गाड़ी न सरकी।

हम लोग कीचड़ में उतरे। गाड़ी ठेलनी चाही, पर कीचड़ काली मिट्टी की थी, इतनी चिकनी कि हम पीछे फिसलते थे।



कुगवनन

[पृष्ठ २३ के सम्मुख



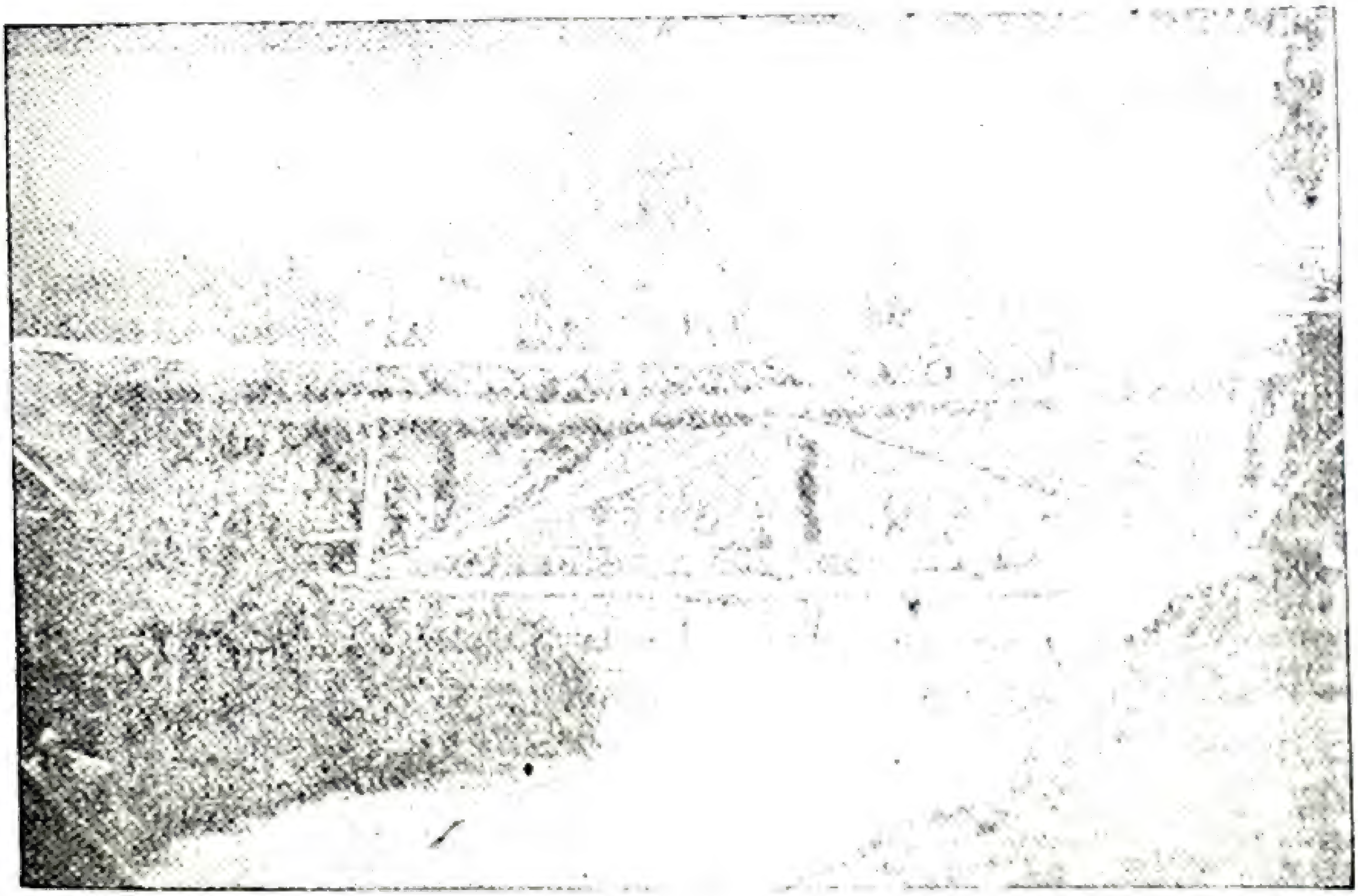
जेहलम नदी, श्रीनगर



जेहलम बाढ़ में

[पृष्ठ १३ के सम्मुख

मुझे ऐसी स्थिति का अनुभव न था। गुरुजी के अतिरिक्त किसी को न था। उन्होंने रहमत से कह कर ऊपर लदा एक थैला उतरवा, उस में से छोटी कुल्हाड़ी और दो-तीन लोहे की सांकलें निकाली। कुल्हाड़ी ले कर हम कुछ दूर पर के पेड़ों से डालियां काट-काट कर पहियों के नीचे बिछाने लगे, सांकलें अरों में से आर-पार पिरो-पिरो कर पहियों पर लपेट दी गयीं। अब गाड़ी चलाने पर सांकलों के अटकाव से गाड़ी कुछ आगे



शुपियां के मार्ग में एक कच्चा पुल

ठिली, और इस प्रकार थोड़ा-थोड़ा कर के डालें बिछा-बिछा कर उसे निकाला गया। पामपुर से रामू के छोटे कस्बे तक के दस-एक मील में कई बार गाड़ी फंसी और निकाली गयी; रामू से शुपियां के दस मील में कई बार खाली कर के पुल पार करा कर भरी गयी। शुपियां से लगभग दो मील पहले एक नाले का पुल टूट गया था। वहां शहतीर बिछा कर उन पर घास-फूस और बजरी डाल कर एक काम-चलाऊ पुल बनाया गया था,

जो ठीक पहियों के फ़ासले जितना चौड़ा था। गाड़ी बिलकुल खाली कर दी गयी, धीरे-धीरे पुल पर चढ़ायी गयी और गुरुजी दूसरे पार से हाथ के इशारों से ड्राइवर को पहिये घुमाने के बारे में आदेश देते रहे ताकि गाड़ी पुल पर बिलकुल सीधी चली आये। अगले दो पहिये निर्विघ्न पार हो गये तो ड्राइवर का हौसला बढ़ा, उसने सहसा गाड़ी को तेज़ कर दिया, धक्का लगते ही पिछला एक पहिया पुल पर से फिसला—फिसला कि गया, गाड़ी तिरछी हो कर टँग गयी। अगला एक पहिया पक्की धरती पर, एक अधर में, पिछला एक पुल पर, एक नीचे अधर में। हम लोगों ने आगे के उठे हुए कोने पर खड़े हो कर गाड़ी को दबा कर सीधा करने की चेष्टा की, पर अधिक ज़ोर डालने से डर था कि गाड़ी का ठट्ठर टेढ़ा होने से इंजन न चटक जाय, इस लिए छोड़ दिया। एक मोटी डाल काट कर पिछले पहिये को उठाने की चेष्टा की, पर पुल पर खड़े-खड़े 'लीवरेज' न मिलता था, और इधर-उधर तो जगह कहाँ थी! आसपास कोई आदमी भी नहीं दीखते थे। अन्त में रहमत को भेज कर शुपियाँ से पन्द्रह-एक आदमी बुलवा कर गाड़ी को सामने रस्सी से खींचा गया और पीछे लकड़ी से उठा कर ठेला गया, तब कहीं वह निकली। हानि कुछ नहीं हुई, पर तीन घंटे उलझन में बीते और ड्राइवर के प्राण सूखते रहे। पन्द्रह रुपये मददगारों को भेंट चढ़े।

शुपियाँ की बस्ती रेम्बियारा नदी के पार थी। नदी के इस पार ही तम्बू लगाये गये, सामान आदि उतार कर गाड़ी को छुट्टी दी गयी। उस से तय तो यही हुआ कि वही फिर आ कर लिवा ले जायगा, पर लौटती बार अग्रिम सूचना भेज देने पर भी वह नहीं आया था और हम लोग रामू तक पैदल ही आये थे (वहाँ से ताँगे मिल गये थे), पर यह बाद की बात है।

तहसीलदार साहब से साँझ होते-न-होते मिल कर अगले दिन की व्यवस्था कर ली। माल के लिए लद्दू घोड़ों के अतिरिक्त दो सवारी के घोड़े भी बुलाये गये कि बारी-बारी से कुछ आराम मिलता रहेगा।

कौंसरनाग यहां से है तो बीस मील अथवा दो पड़ाव ही, पर मार्ग सुगम नहीं है और दूसरे दिन तो ड़ांटी चढ़ाई है। तहसीलदार से मालूम हुआ कि कौंसरनाग लोग जाते तो हैं, पर रात को वहां कभी कोई नहीं रहा, निचले पड़ाव कुंगवतन में जंगल-विभाग के बंगले में रह कर लोग दिनों-दिन कौंसरनाग हो आते हैं—'वहां है ही क्या—वीरान जगह है, न झाड़ न झंखाड़, तूफ़ान भी आते हैं। वहां तो गूजर भी नहीं रहते।'

जो हो। हमें तो वहां तीन सप्ताह रहना है, काम करना है।

*　　　　*　　　　*

रेम्बियारा नदी पार कर के शुपियां में से होते हुए हम लोग खुले खेतों के प्रदेश में आ गये। खेत अधिकतर मकई के थे, बीच-बीच में जहां-तहां घास की हरियाली और अखरोट के पेड़। बस्ती के पास पेड़ थे, उन पर फल का नाम नहीं था, भुट्टे अपनी ललाती सुनहली जटाएं झुलाते हुए मानों अटारियों से उझक रहे थे। खेत के पास से गुज़रते हुए मैंने और छोटे जोशी ने दो-एक तोड़े। बड़े जोशी जी ने कहा, "हैं-हैं, यह क्या करते हो? बुरी बात है।"

मैंने कहा, "यह तो राह-चलतों का रूढ़ अधिकार है, इस में कोई बाधा नहीं देता।"

"लेकिन चोरी तो चोरी है।"

"क्यों, चोरी तब हो अगर मालिक को आपत्ति हो, या वह कर्म उस का अप्रत्याशित भी हो।"

"हुँ; यह सब हेतुवाद है।"

मैंने कुछ न कहा, भुट्टों का आकर्षण विवाद के आकर्षण से बढ़ कर होता है। दो भुट्टे मैंने गुरुजी को दिये, हम लोग खाने लगे। भुट्टे दूधिया थे और बहुत मीठे।

तनिक देर में बड़े जोशी जी बोले, "तुम बड़े दुष्ट हो जी! हमारे सामने चर रहे हो, हम से पूछा भी नहीं।"

मैंने कहा, "आपने तोड़ने से मना किया था, मैंने समझा कि आप नहीं खाते।"

"वाह! खाते क्यों नहीं।"

"तो तोड़ लीजिए न--सब तरफ़ तो भुट्टे ही भुट्टे हैं।"

"न—तुम तोड़ दो तो खाऊँगा। मैं चोरी नहीं करता।"

"मगर चोरी के फल खाने से परहेज़ नहीं, क्यों ?" गुरुजी ने कहा। "तब तो यह उचित है कि तुम्हारे हाथ से तुड़वा कर भुट्टे हम लोग खायें।"

हम सब हँसते रहे। पर भुट्टे मैंने तोड़ कर उन्हें दे दिये।

थोड़ी देर तक काफ़िला चुपचाप च ा। लद्दू घोड़ों को आगे भेजा गया था, हमारे साथ सवारी के घोड़े चले आ रहे थे। रहमत आगे गया था, दो घोड़ों वाले हम लोगों के साथ थे।

बड़े जोशी जी सब की हँसी से कुछ अप्रतिभ थे। शायद बदले की सोच रहे थे। हठात् बोले, "अच्छा घोड़ों की सवारी कैसे होगी? मेरी राय है कि तुम पहले आधे में सवारी करो, हम उत्तरार्ध में।

मैं समझ गया कि यह प्रस्ताव क्यों किया गया है। उत्तरार्ध में टाँगें थक जायेंगी और रास्ता भी विकट होगा, तब वह सवारी कर के हमें पैदल चलाना चाहते हैं; अभी सीधा-सपाट हरियाला रास्ता है और सुहावना समय, अभी वे चल लेंगें। मैं मन-ही-मन मुस्कराया। कहा "अच्छा। पूर्वार्ध मैं और गुरुजी, उत्तरार्ध जोशी-द्वय। ठीक है।"

गुरुजी भी ताड़ गये। बोले, "मैं राज़ी हूँ।"

दोनों जोशी भी सहमत हो गये।

हम दोनों घोड़ों पर सवार हुए। एड़ दी और घास से ढकी हुई पगडंडी पर सरपट दौड़ाते हुए ले चले। पहाड़ी टट्टू के नाल प्रायः नहीं देते, घास पर ही उन्हें सरपट दौड़ाया जा सकता है और इस का एक अद्भुत आनन्द होता है...

सेदाऊ गाँव में हम लोग क्षण भर रुके। कुछ अंडे खरीदे। फिर गाँव पार कर के घोड़े दौड़ाना शुरू किया, किन्तु आगे पथ ऊँचा-नीचा और क्रमशः चढ़ता हुआ था, सरपट दौड़ाना सम्भव न था। थोड़ी देर में चीड़ के वन आ गये, जिन में जहाँ-तहाँ खुली जगहों में तम्बू लगाने के लिए चौतरे

बने हुए थे। पहले वहाँ तम्बू लगते रहे होंगे। कुछ दूर पर एक बावड़ी भी थी, जहाँ से सोते का स्वच्छ पानी मिल सकता था। सैर के लिए आये होते तो अवश्य यहाँ एक-आध दिन रहते, पर हमारा ध्यान तो कौंसरनाग में केन्द्रित था...

कुछ और आगे फिर उतार शुरू हुआ, और थोड़ी देर में हमने विशुव नदी के पार सामान के घोड़ों को जा पकड़ा। एक झरने के पास थोड़ी खुली जगह में काफ़िला सुस्ता रहा था। हमारे घोड़े भी सरपट दौड़ से बिलकुल थक चुके थे; उन्हें हमने छोड़ दिया। यहाँ से मील-भर दूर हरिबल का जलप्रपात था, जिस के सौन्दर्य की प्रशंसा पथ-दर्शिकाओं में पढ़ रखी थी। रहमत को साथ ले कर और कुछ चाय का सामान ले कर हम दोनों वहाँ उतर गये। गुरुपत्नी की बनायी हुई अदरख की खताइयाँ भी थीं, हम लोगों ने चाय बना कर पी और फिर जलप्रपात के तले जा बैठे। प्रपात ऊँचा तो नहीं था, कोई ४०–५० फ़ुट होगा, किन्तु पानी बहुत था और स्थान भी अत्यन्त रमणीक। बड़े-बड़े श्वेत-हरित पत्थर, वैसा ही दूध और ज़हर-मुहरे के घोल-सा पानी, फेन के आवर्त्त और वन-सरस्वती का अप्रतिहत संगीत! घंटे भर बाद जब वहाँ से चलने को उठे, तब मैं बार-बार लौट-लौट कर देखता रहा। स्वर के साथ-साथ प्रपात का चित्र मेरे अन्तस् में बस गया था, और मैं मानो मुड़-मुड़ कर एक बन्धु को आश्वासन दे रहा था कि फिर आऊँगा, फिर आऊँगा...वह 'फिर आना' नहीं हुआ है, न जाने कभी होगा कि नहीं; किन्तु वह प्रतिश्रुति झूठ नहीं है, क्योंकि वह मनोभाव झूठ नहीं है। 'फिर आना' वास्तव में कभी होता ही नहीं, क्योंकि काल की दिशा में लौटना कभी नहीं होता। प्रत्येक आना नया आना होता है, घटना की आवृत्ति होती है, अनुभूति की नहीं... अनुभूति की आवृत्ति, पुनरनुभूति केवल स्मरण में है...

* * *

घोड़े सब सुस्ता चुके थे, काफ़िला चल रहा था। रहमत को हमने आगे कर दिया और थोड़ी देर बैठे कि जोशी-द्वय आ जायें। सवारी के घोड़े भी हमारे साथ रहे।

पहुँचते ही बड़े जोशी ने कहा, "तुम लोग यहाँ आराम करते रहे और हम धूप में चलते आये हैं। खैर, अब तुम चलना और हम घोड़े पर बैठे मुँह चिढ़ायेंगे।"

हम चुप रहे। घोड़े थक चुके थे, और आगे घना छायादार जंगल आ रहा था, और रास्ता अत्यन्त दुर्गम, और बीच-बीच में ऐसी कर्री उतराई कि घोड़े की पीठ पर टिकना तो असम्भव होगा ही, घोड़े को बड़ी खुशामद कर के उतारना पड़ेगा...यह सब पहले से देखा नहीं था, पर नक्शे से जानते थे, और घोड़े थकाये तो थे ही —हम दोनों यों पैदल काफ़ी चल सकते थे और घोड़ों को सरपट दौड़ाने के शौकीन भी थे, सो एक आनन्द हम ले चुके थे और अब चीड़ के जंगलों में पैदल जाने वाले थे ही...

जोशीजी ने कहा, "चाय पी जा सकती तो अच्छा होता। सामान वाले घोड़े इतनी आगें चले गये?"

हमने कहा, "हमने तो पी ली।"

"कहाँ?"

'हम लोग हरिबल का प्रपात देखने गये थे, वहीं पी आये।"

"तो तुम लोग प्रपात भी देख आये! कितनी दूर है?"

"डेढ़ मील।"

जोशी जी थोड़ी देर हमें घूरते रहे। फिर बोले, "हम भी जायेंगे।"

गुरुजी ने कहा, "अब तो देर हो गयी। आगे रास्ता खराब है, कुंगवतन जल्दी पहुँचना चाहिए नहीं तो रात जंगल में खो जायेंगे। इस जंगल में काले रीछ भी बहुत होते हैं।"

यह बात यों तो सच थी, पर कही इस लिए गयी थी कि जोशी जी शेर से अधिक काले रीछ के नाम से घबड़ाते थे।

और दलील अनावश्यक थी। जोशी जी चल पड़े। बोले, "तुम लोगों ने खाने को कुछ नहीं रखा?"

गुरुजी ने कहा, "और तो कुछ नहीं, अंडे हैं। खाओगे ?"

उन के अतिरिक्त हम तीनों निरामिषाशी थे। मैं अंडा खाने में कोई युक्ति-संगत आपत्ति नहीं मानता था, तथापि तब तक खाया नहीं था।

जोशी जी ने कहा "और कुछ नहीं !"

गुरुजी तनिक पसीजे, बोले, "थोड़ी सी कुकीज (खताइयां) दे सकता हूं। एक पैकेट चाकलेट भी।"

"लाइये।"

किन्तु उस से कुछ नहीं बना। चलते-चलते सब खा कर जोशीजी फिर बोले, "तो लाइये, आज आप के सिर हम अपना धर्म भी छोड़ें। अंडे कहां हैं ?"

गुरुजी ने हाथ के झोले में से छः अंडे निकाल दिये।

"कच्चे--कच्चे तो हम नहीं खायेंगे।"

जो घोड़े वाला हमारे साथ था उस के पास एक अलमिनियम का कटोरा था। उसी में अंडे उबाले गये। तोड़ने पर पता चला अंडे पुराने थे, उन में गन्धक की तीव्र गन्ध थी। जोशी जी ने जैसे-तैसे एक खाया। मुंह बिचकाते जाते और खाते जाते। दो खाने के बाद गुरुजी से बोले, "यही है अंडा जिस की इतनी प्रशंसा आप लोग करते हैं ? यही आप इतने चाव से खाते हैं ?"

"अच्छे अंडे स्वादिष्ट होते हैं, ये तो बासी निकले।"

जोशी जी ने नाटकीय ढंग से माथा ठोंक कर कहा, "धत् ! हमारा धर्म भी लिया तो सड़े अंडे के दामों। हम यह भी कहने लायक न रहे कि चलो धर्म गया तो गया एक न्यामत तो चखी !"

मैंने धीरे से कहा, "इसी को तो कहते हैं गुनाह बेलज्जत।"

"तुम चुप रहो जी !" कह कर जोशी जी ने गुरुजी की ओर उन्मुख हो कर कहा, "आपने अपने छात्रों को बहुत सिर चढ़ा रखा है। हम-आप प्रोफेसर, ये दोनों छोकरे हम से मजाक करते हैं।"

चलते-चलते अचानक हम लोग ठिठक गये। घाटी के मोड़ के आगे खुली पहाड़ी, किन्तु यहां निरी घास नहीं, बीच-बीच में मीलों तक फैले

हुए फूल ही फूल! इन में से कई-एक फूल यत्नपूर्वक बगीचों में लगाये जाते हैं, किन्तु यहाँ जंगली हैं। कास्मिया, पोटेंटिला, स्नोड्राप, एनिमोनी, बटर-कप और अनेक जातियों के फूल जिन के देशी-विलायती कोई नाम नहीं जानता। पीले, लाल, गुलाबी, नीले, आसमानी, किरमिजी, उन्नाबी, सफ़ेद, चम्पई रंगों की होली-सी मची हुई थी और हवा के झोकों से नाल झूम-झूम जाते थे। मानों फूल मटक-मटक कर हवा से कह रहे हों, "उँह, हमें तुम्हारी क्या परवाह है!"

पहाड़ों में फूल मैंने और भी देखे हैं, किन्तु वैसे नहीं। पहाड़ों और फूलों के चित्र भी बहुत देखे हैं, किन्तु उस दृश्य के आसपास का भी चित्र कभी नहीं देखा। केवल निकोलस रोयरिक के एक चित्र में याद पड़ता है, वैसी ही फूली हुई पहाड़ियों का चित्र है, यद्यपि उस में भी थोड़ी कृत्रिमता लायी गयी है क्योंकि वह 'कृष्ण की वंशी' से कुसुमित हो उठते वन-प्रदेश का चित्र है, उस वन-खंड का नहीं जो अपनी ही अन्तर्वंशी की पुकार से खिल उठा हो, अस्तित्व के सहज आनन्द की पंखुड़िओं पर दोला-यित हो रहा हो...

उपत्यका लम्बी थी, चौड़ाई उस की अधिक न थी, और हमें उस के आर-पार जाना था। थोड़ी देर में हम लोग फिर चीड़ के वन में घुस गये।

फूलों की घाटी जोशी-द्वय ने घोड़ों पर पार की थी। घोड़े बहुत धीरे-धीरे चल रहे थे, पर उस समय वही अभीष्ट था। अब जंगल में जब वे लोग पिछड़ने लगे तब उन्होंने घोड़ों को दौड़ाना चाहा, पर घोड़ों ने दुलकी भी चल कर न दी। बड़े जोशी जी ने घोड़े वाले से कह कर एक पतली-सी छड़ी कटवायी। किन्तु घोड़े अद्‌भुत थे, कोड़ा पड़ते ही बिलकुल निश्चल खड़े हो जाते और बहुत पुचकारने पर चलते, अपनी उसी धीर गति से।

जोशी जी ने घोड़े वाले को डाँट दिया। उसने कहा, "साहब, घोड़े थक गये हैं—सुबह इतना दौड़े हैं।"

अब बात उन की समझ में आ गयी। हमें पुकार कर बोले, "तुम लोगों की चालाकी अब मैं समझा। कल पहली बारी हमारी। तुम लोग भी मजा देखना।"

हमने कहा, "अच्छा।" कल क्या मिलेगा, इसे हम लोग नक्शे पर अच्छी तरह देख चुके थे। कोंसरनाग की चढ़ाई का अन्तिम आध-पौन मील तो सीढ़ी जैसी चढ़ाई का था जिस में घोड़े की सवारी हर हालत में असम्भव होती, उस से इधर के रास्ते के परिवर्तन हमारे पक्ष में थे...

घोड़े धीरे-धीरे चलते रहे। थोड़ी देर में रास्ता बिलकुल खो गया। नाले के ऊपर झुकी हुई चट्टानों के पेट के आर-पार एक हलकी-सी लीक—यही पथ था। हम लोग जैसे-तैसे एक हाथ से चट्टान का सहारा लेते-लेते बढ़ते गये। घोड़े रुक गये। यों ही पहाड़ी घोड़े पगडंडी के बाहरी सिरे पर चलते हैं, पहाड़ी के पार्श्व से अपने को बचाते हुए; और जोशी जी उन की इस आदत से बहुत घबराते थे; यहाँ पर अगर घोड़े पार जाने को राजी भी होते तो भी वह सवार न होते। उतर कर घोड़ों को कुछ खींच कर, कुछ पुचकार कर पार कराया। यहाँ से आगे सारा रास्ता लगभग ऐसा ही था, चीड़ के घने जंगल, एक ओर सीधी चट्टानें, दूसरी ओर घहराता पानी, बीच में पतली-सी लीक...केवल कहीं-कहीं थोड़ी-सी खुली जगह आ जाती, जहाँ तनिक रुक कर चीड़ों में ढलती धूप के खेल देख लेते और फिर बढ़े चलते...

एक खुली जगह, पास में नदी, उस पार चढ़ाई के ऊपर जंगल के सिरे पर छोटा-सा बंगला—यह कुंगवतन है। बंगले का परमिट हमने नहीं लिया था, वह उन दिनों के लिए किसी विभागीय अफ़सर के लिए रिजर्व था। नदी के इस पार ही एक शहतीरों का बाड़ा था, जिस के सिरे पर एक काठ-घर भी। दिन छिपने को था, थोड़ी-थोड़ी बूँदें भी पड़ रही थीं। सामान के घोड़े पीछे थे, हम लोगों ने उस काठ-घर में ही शरण ली। आग जला कर बैठ गये। घोड़े वाला अपनी छोटी बालटी माँज कर कहीं से दो सेर दूध ले आया। मालूम हुआ कि आसपास खानाबदोश गूजर बसते

है और दूध की इधर बहुत सुविधा है। हमने उस समय दो आने सेर लिया, किन्तु बाद में रुपये का बारह सेर तक मिलता रहा।



काठ-घर : कुंगवतन

थोड़ी देर में सामान भी आ गया। एक तम्बू खड़ा किया गया। रसोई काठ-घर में ही रही, सामान भी वहीं रख दिया गया और रहमत सोया भी वहीं। मैंने सूजी का हलवा बनाया; फल, दूध और हलवे का जलपान कर के हम तीन जने टहलते हुए कल का कार्य-क्रम निर्धारित करने लगे, और छोटे जोशी पौधों की खोज में लग गये। रहमत ने रात को भुने आलू, पराठे, दूध में पकाये हुए सूखे सेब और काफ़ी देने का आर्डर पा कर अपना काम आरम्भ कर ही दिया था। चारों ओर वन्य शान्ति थी, साँझ के बुझते आलोक में हरे चीड़ काले पड़ गये थे, हरा पानी उजला हो आया था, हरे पत्थरों पर फीकी लालिम दीप्ति खेल रही थी। एक सत्य के आलोक के फीके पड़ते ही कितनी माया-मरीचिकाएँ उभर आयी हैं और रंगीले प्रलोभन बिखेरने लगी हैं! किन्तु, प्रभात फिर होगा, आलोक फिर होगा, सब भौतिक सत्य फिर तादृशत्व पा कर खिलेंगे...

हम जानते थे कि कल फिर वैसा ही दिन होगा, किन्तु फिर भी सांझ की रंगीनी के साथ उदासी क्यों आती है, क्या इस लिए कि वह रंगीनी अपनी अमान्ता का भी बोध लाती है ?

निशा के बाद उषा है, किन्तु
देख बुझता रवि का आलोक
अकारण हो कर सहसा मौन
ज्योति को देते विदा सशोक...

*　　　*　　　*

कोंसरनाग नदी के किनारे-किनारे हलकी चढ़ाई चढ़ते हुए हम लोग कोंसरनाग की ओर बढ़ने लगे। हलकी चढ़ाई में घोड़े को कष्ट तो नहीं होता, पर दौड़ाया भी नहीं जाता, अतः जोशी-द्वय भी हम लोग के साथ ही साथ चल रहे थे। थोड़ी देर में घोड़े की उस चाल से ऊब कर वे भी पैदल चलने लगे।

कुंगवतन की ऊँचाई लगभग साढ़े आठ हज़ार फुट है। दोपहर तक हम लोग एक हज़ार फुट और चढ़ गये थे। चीड़ों ने पहले भूर्ज और फिर छोटे-छोटे वृक्षों को स्थान दे दिया था; अब निरी झाड़ियाँ मिलने लगीं और सामने खुली घास के प्रसार दीखने लगे। बहुत विरली, गावज़बान और 'जूनिपर' की झाड़ियाँ और घास में जहाँ-तहाँ नाना प्रकार की गन्धोषधियाँ, जिन के खाने से यहाँ के गूजरों की गायें अजवायन-सा महकने वाला दूध देती हैं।

मैंने जोशी जी से कहा, "यहाँ से तो घोड़े हमारे हैं न ?"

उन्होंने कुछ आनाकानी करते हुए कहा, "नहीं, यह आधा मील हम दौड़ा लें, फिर।"

तय हुआ कि सामने जो नाला दीख रहा है, वह जहाँ कोंसरनाग नदी में मिलता है वहाँ पर वे घोड़े हमें दे देंगे। वहाँ तक दोनों घोड़े दौड़ाते ले गये।

हम लोग घोड़ों पर सवार हुए। अब पूरा काफ़िला साथ ही साथ

था, सामान कुछ पहले चला था अवश्य, पर हम लोगों ने उसे जा पकड़ा था और फिर साथ चले थे।

घोड़े वाले ने कहा, "यह नाला पार करना होगा।"

हमने घोड़े नदी में डाल दिये। धीरे-धीरे पैर जमाते हुए वे आगे बढ़े, जहाँ स्रोत तेज़ था वहाँ रुक गये, फिर, थोड़ी पुचकार के बाद आगे बढ़े और क्रमशः पार हो गये। नाला खासा गहरा था। बीच धार में हम लोगों ने पैर उठा लिये थे, पर जल रिकाब के ऊपर तक आ गया था।

पार जा कर हमने हँसना शुरू किया। जोशी-द्वय अभी देख रहे थे। हमारे हँसने से चिढ़ कर छोटे जोशी ने जूते-मोज़े उतार कर पतलून चढ़ाना शुरू किया। बड़े जोशी जी ब्रीचेस पहने थे, उसे चढ़ाया न जा सकता था।

छोटे जोशी भी लड़खड़ाते हुए जाँघों तक भींग कर पार आ गये; कोट की आस्तीन और पैंट के पहुँचे काफ़ी भींग गये थे।

घोड़े वालों ने भी भाँप लिया कि कुछ बात है। एक ने बड़े जोशी जी से कहा, "कुछ फ़िकिर नेइ हजूर, हम आप को कन्धे पर बिठा कर ले जायेंगे।"

जोशी जी ने झल्ला कर कहा, "नहीं, हम अपने-आप जायेंगे।"

थोड़ी देर शायद वह ब्रीचेस उतारने पर विचार करते रहे। इस बीच गुरुजी ने अपना घोड़ा वापस इस पार भेज दिया। घोड़े वाला पानी में उतर कर उसे खींच ले आया। जोशी जी सवार हुए; घोड़े वाला लगाम पकड़े खींच कर ले चला। किन्तु पानी के बीच में जब घोड़ा थमा, तब लगाम के बगैर बैठने के अनभ्यस्त जोशी जी ने अपनी डाँवाडोल स्थिति से घबरा कर लगाम घोड़े वाले से ले ली और उसे डपट कर कहा, "तुम जाओ, हम अपने आप ले आयेंगे।"

घोड़ा वहीं खड़ा तेज़ पानी को घूर रहा था। जोशी जी ने अधीर हो कर पेट में एड़ दी, घोड़ा कुछ बिदका, फिर गुस्से से सिर झटक कर ज्यों-का-त्यों हो गया। अब की बार जोशी जी ने ज़ोर से एड़ दी, लगाम को भी झटक दिया।

घोड़े ने गर्दन मोड़ कर एक तरफ़ जोशी जी की टाँग पकड़ने की कोशिश की और साथ ही पानी में बैठ गया। जोशी जी की टाँग जूता-ब्रीचेस समेत जाँघ तक भीग गयी।

घोड़े वाले ने लौट कर रासें पकड़ीं। खींच कर घोड़े को उठाया और पार ले गया।

जोशी जी ने जूते खोल कर और ब्रीचेस की टाँगें दाब कर पानी निकाला, जूते फिर पहने। बर्फ़-सा ठंडा पानी था, जाँघ तक भीगी ब्रीचेस की नमी धीरे-धीरे ऊपर चढ़ रही थी, जोशी जी ठंड से काँप रहे थे।

गुरु जी ने सहानुभूतिपूर्वक चाकलेट का पैकेट निकाल कर उन्हें दिया। थर्मस में थोड़ी चाय ली गयी थी, वह भी पिलायी। हम लोग फिर आगे बढ़े। और भी दो-एक नाले पार किये, कौंसरनाग नदी भी एकाधिक बार पार की। उस एक अनुभव के बाद जोशी जी ने घोड़े पर बैठ कर नाला पार करने से कतई इनकार कर दिया, और घोड़े वालों के कन्धों पर सवार हो कर जाने की अवमानना भी स्वीकार की।

कुछ आगे सपाट दलदली भूमि में दो ताल मिले। बड़े का नाम माहीनाग है। इन्हीं के पास शुपियाँ से आने वाला एक रास्ता हमारे पथ में मिल गया। कुछ आगे जा कर यह रास्ता अलग हो कर गुगुमारों गली जाता है और वहाँ से पंजाल श्रेणी के पार भी जाया जा सकता है। हम कुंगवतन न जा कर शुपियाँ से यहाँ तक इस राह भी आ सकते थे, पर यह अपेक्षता लम्बा है। हमने दुर्गमता की परवाह न कर छोटा रास्ता पकड़ा था।

थोड़ी दूर और ठीक रास्ते से चल कर हम कौंसरनाग की अन्तिम ढाँटी चढ़ाई के चरण में आ गये। यहाँ से आगे पथ नहीं था, ध्येय था ऊँचा चढ़ना, पौन मील भर में डेढ़ हजार फ़ुट।

थोड़ी दूर तक सामान के घोड़ों ने चढ़ने का यत्न किया। एक तो चढ़ाई ऐसी थी, दूसरे मार्ग बहुत तंग था और चट्टानों के बीच-बीच हो कर ऐसा जाता था कि सामान टकरा कर फँस जाता था। जिन ट्रंकों

में दोनों विद्युद्दर्शक थे, उन की सब से अधिक चिन्ता थी, और गुरुजी के बार-बार सावधान करने पर भी 'कुछ फिकिर नेई' के बीजमन्त्र में घोड़े वालों की आस्था किसी तरह कम न की जा सकी थी; अतः घोड़े रोक कर यह सामान उतार कर घोड़े वालों की पीठ पर लादा गया। अन्य यन्त्रों का एक-एक बक्स गुरुजी, छोटे जोशी और मैंने भी पीठ पर लिया—कैमरे और प्लेटों का, अन्वीक्षक और मापक यन्त्रों का इत्यादि। कश्मीर में डाक्टरी परीक्षा में बड़े जोशी जी की हृद्‌गति अपेक्षया तेज़ पायी गयी थी, यहाँ ऊँचाई के हलके वायुमंडल में वह यों ही एक सौ दस के लगभग थी। उन्हें कोई भार न दिया गया।

हम लोग चुपचाप चढ़ने लगे। साढ़े ग्यारह हज़ार फ़ुट हम आ गये थे। झील की ऊँचाई तो इतनी ही थी। किन्तु, हमें दो सौ फ़ुट और चढ़ कर किनारे की ओर उतरना होगा। झील तिकोनी थी, दोनों पार्श्व अत्यन्त ऊँची शृंगमालाएँ और तीसरी ओर बाँध-सी वह चढ़ाई जिस पर हम चढ़ रहे थे। इस की चोटी चपटी थी और उस के पार ही झील का उतार था।

ये अन्तिम दो सौ फ़ुट मुहाल हो गये। सुस्ताने के बाद दस कदम चढ़ने में भी इतनी थकान आ सकती है! समझ में आने लगा कि कैसे एवरेस्ट पर चढ़ने वाले अन्तिम सौ-पचास फ़ुट में भी हार कर आ जाते थे—उस ऊँचाई पर एक कदम चलने से साँस फूल जाती है!

सामान रख कर एक चट्टान के सहारे पीठ टेक कर बैठा था। सामने एक और चट्टान के सहारे एक पत्थर तिरछा पड़ा था। देखा, उस के नीचे मैली-सी बर्फ़ अभी तक है। सोच ही रहा था कि सितम्बर में दुबारा बर्फ़ पड़ने तक यह पिघलती बनी रहेगी या नहीं, कि आँखें उस के पार की कन्दरा पर केन्द्रित हो आयीं—देखा वहाँ एक फूल!

भीतर घुस कर उसे निकाला। हलके नीले रंग का एक पोस्त का फूल। सुन रखा था कि पहाड़ों में हिम-रेखा के आसपास यह नीला पोस्त पाया जाता है और इसे पाना शुभ होता है। बर्फ़ और पत्थर को भेद

कर यह कोमल सौकुमार्य निकलता है। इतनी तपस्या के बाद जो अवतीर्ण हो, उस का पाया जाना शुभ तो होना ही चाहिए।

किन्तु शुभ किस के लिए ?



'चट्टानों में भटकते हुए सहसा देखा, एक गुहा के भीतर जमी बर्फ़ के परे से झांक कर नीले पोस्त का फूल मुस्करा रहा है। मैंने प्रसन्न हो कर कहा, "अहोभाग्य ! यह शुभ फूल मुझे दीखा।" और लपक कर उसे तोड़ लिया।

'फूल ने सिर झुका कर, आह भरते हुए कहा, "ठीक है, जो मुझे पाता है उस का भाग्योदय होता है, किन्तु मैं जब पाया जाता हूँ तो मेरी मृत्यु हो जाती है।" '

थोड़ी-थोड़ी दूर पर और भी कुछ-एक फूल मुझे मिले, उन्हें भी मैंने तोड़ कर रख लिया। पड़ाव पर जा कर इन्हें पुस्तक में दबा कर सुखाऊँगा और रखूँगा; अन्य प्रकार के फूल भी मैंने रखे थे...

और थोड़ा ऊपर इस घाटी की शिरोरेखा है, फिर उस के पार उतार है, और सामने ––सामने

जो है, . सो. . .

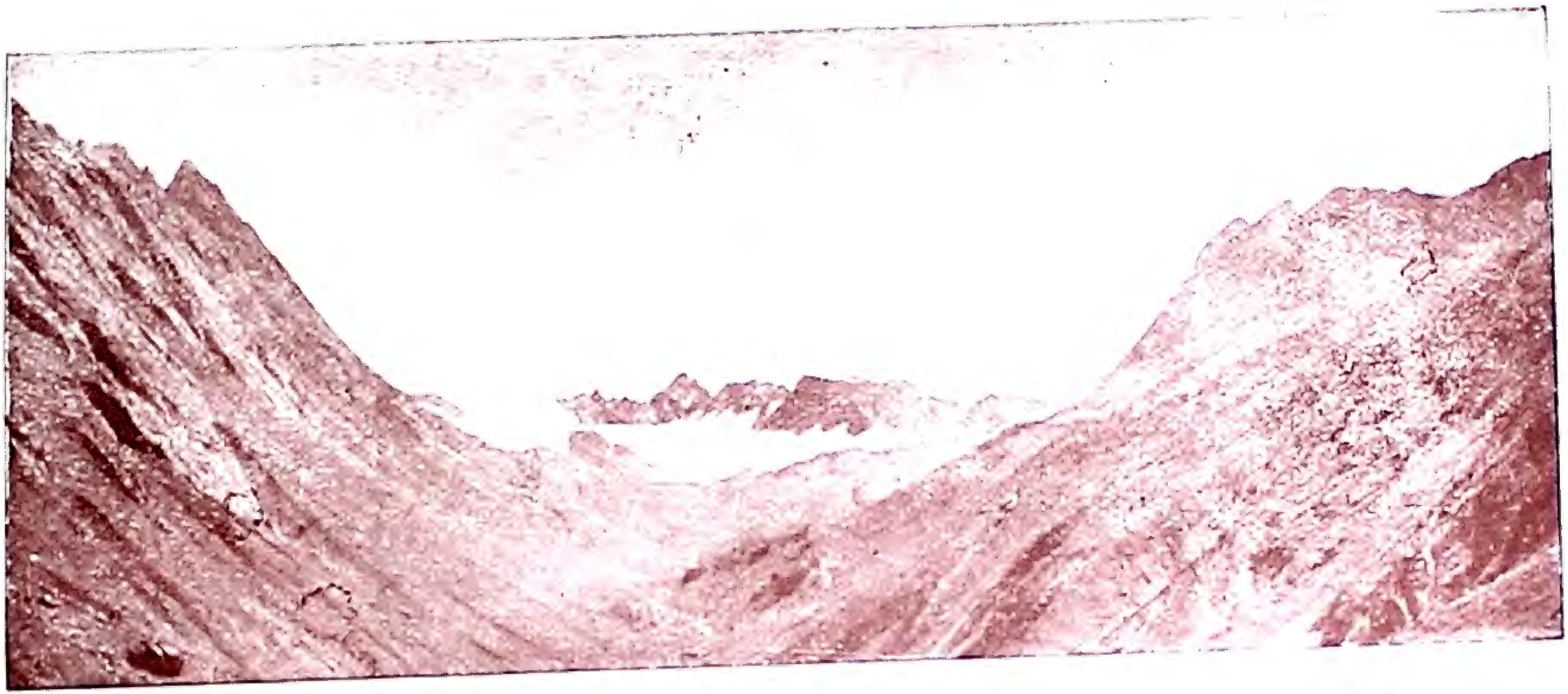
*　　　*　　　*

रूप की सीढ़ी पर एक तल ऐसा आता है जहाँ रंगों का महत्त्व नहीं रहता। उस तल तक हम सुन्दर की बात करते हैं, किन्तु वहाँ जा कर यह शब्द ओछा पड़ जाता है और विराट् का आविर्भाव होता है।

कोंसरनाग की जिस ढाल पर हम चढ़े थे, उस की शिरोरेखा वह मर्यादा-रेखा थी। सौन्दर्य को, रंगमय रूप को, हम पीछे छोड़ आये थे, सामने था विराट्, और उस के साधन रंग नहीं थे, केवल श्वेत और कृष्ण, केवल प्रकाश और छाया—केवल आलोक और निरालोक! यों जहाँ हम थे, वहाँ की काली या धूसर चट्टानों पर जहाँ-तहाँ काही की मिश्र-हरित, ताम्र-लोहित रंगत थी ही, जल में दूध-धुली नीलिमा भी थी ही, और दूर उस पार की निस्संग चोटियों को हिमशीतल निर्मोह में लपेट रखने वाली बर्फ़ की चादर में संन्यासोचित गैरिक भाव भी था ही; किन्तु बोध को जो चीज़ पकड़ती थी, वह दृश्य रंग नहीं, रंगों की अनुपस्थिति में केवल रेखाओं और तलों का बहाव, अन्योन्य-संवर्धक कोणों का रखाव, ऊँचाई-निचाई और गहराई, निराडम्बर महानता...

जिस तरफ़ हम थे, उधर जहाँ-तहाँ गलियों में और चट्टानों की आड़ में बर्फ़ जमी हुई थी। झील में भी नवनीत के बहुत बड़े-बड़े गोलों-सी बर्फ़ की चट्टानें तिर रही थीं, घोर निःस्तब्धता का राज्य था। तीसरे पहर की धूप हम लोगों की छायाओं को ले कर नीरव पैरों से सरोवर के पार भागी जा रही थी, और मानों उस के भागने के पथ-सी एक हलकी लहरीली रेखा झील की लम्बान को मापती हुई पार के हिम-स्रोत के पदमूल में खो गयी थी।

झील के उतार पर एक खुली जगह हम लोगों ने पूर्वोन्मुख शिविर डाला। इस स्थान के सामने एक बड़ी चट्टान चपटी बिछी हुई थी और उसी से लग कर एक चिकनी तिरछी चट्टान थी। दोनों मिल कर एक नैसर्गिक आसन्दी बना देती थीं जिस पर बैठ कर झील को देखा जा सकता था। दक्षिण को कुछ हट कर दो-तीन बड़े पत्थरों की आड़ में



कोंसरनाग के ऊपर शृंगमाला

[पृ० ११८ के सम्मुख

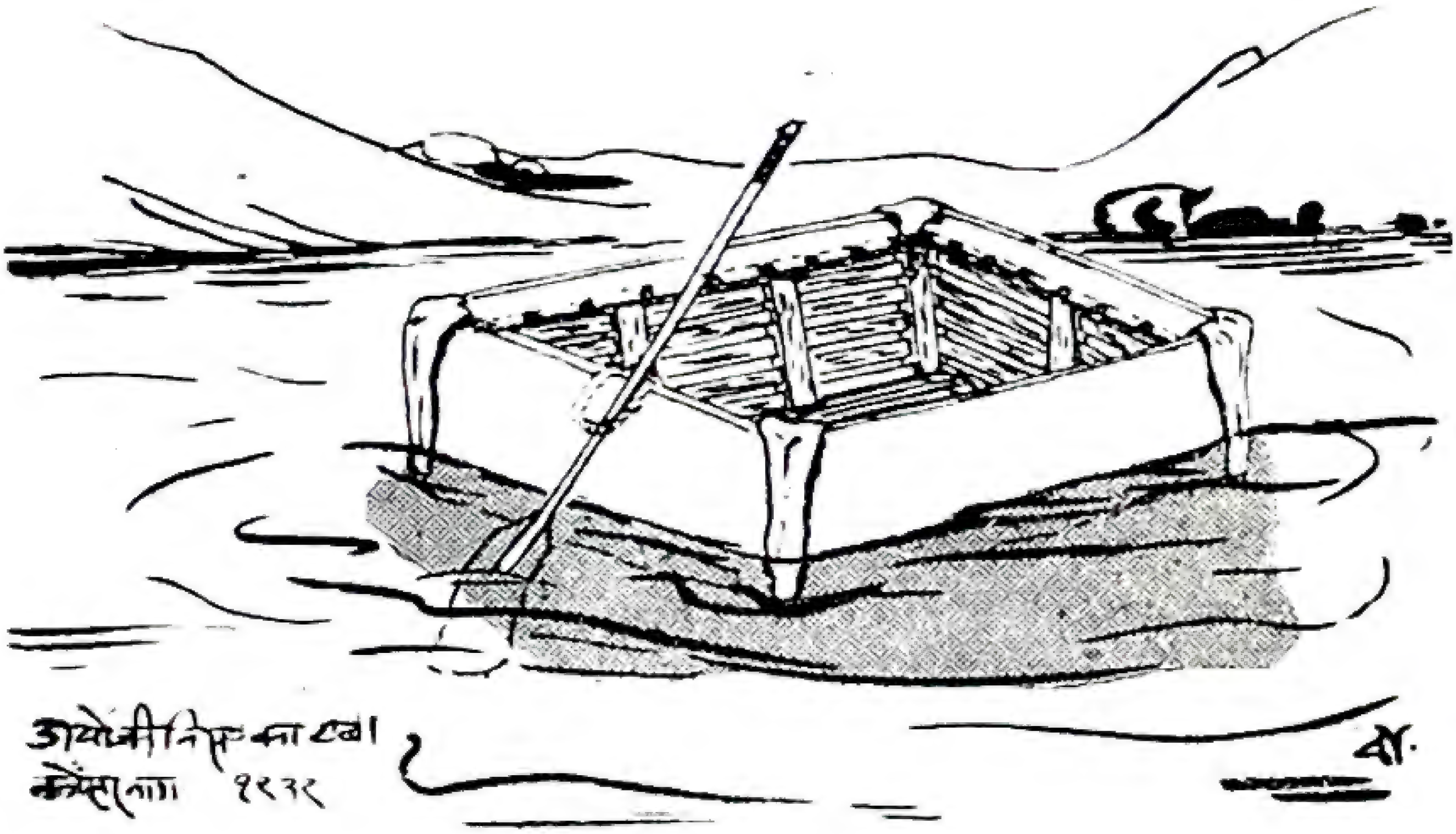
रसोई की छोलदारी लगायी गयी, और उस से और आगे घोड़े वालों की छोलदारी। उन्होंने दो की बजाय एक ही लगाना पसन्द किया ताकि उस में भीड़ कर के गरम रह सकें।

जिस छोटी चढ़ाई पर से हम आये थे, उस पर गूजरों की गायें देखी थीं। गूजर इस चढ़ाई के नीचे माहीनाग के ऊपर के प्रदेश में बसते थे, जहां घास पर्याप्त थी। छोटे-छोटे पत्थरों का तीन फुट ऊंचा बाड़ा-सा बना कर उस पर चपटे पत्थर की छत, यही उन का घर था जिस में झुक कर घुसा जा सकता था और घुस कर लेटा जा सकता था या कष्टपूर्वक बैठा। इन्हीं गूजरों से दूध की व्यवस्था कर ली गयी थी। ईंधन हम साथ लाये थे और अनन्तर तीसरे दिन जा कर कुंगवतन से दो-तीन घोड़े वाले गुज़ारे लायक लकड़ी ले आते थे। कुंगवतन से ऊपर तो काठ था नहीं।

भोजन हम लोगों का ऋषियों का-सा था। सूखे खट्टे सेब और आलू की तरकारी, दाल, पूरी या पराठे, और छः सेर दूध की खीर, यह दोपहर का भोजन था। रात को कुछ फल-मेवे, टोस्ट-मक्खन, मधु और दूध या कोको। खीर को हम प्रायः सबेरे ही तैयार कर के बर्फ में दबा छोड़ते और खाने के समय निकालते। गुरुजी खाना खाने बैठते तो प्रायः कहते, 'तुम इसे सात्विक भोजन कहते हो, यह तो राजाओं का खाना है!' किन्तु खाना उन्हें रुचता और जब वह बाहर की पत्थर की बेंच पर परोसा जाता तब उन्हें खाने का समय हो गये होने की याद भी न दिलानी पड़ती। इसी लिए जब अभियान से लौट कर उन्हें पुनः गुरुपत्नी के हवाले किया तब उन का वजन १० पौंड अधिक ही निकला; यों कुछ और अधिक निकलता, लेकिन बढ़ कर फिर वह ५–७ पौंड घट गया था—कैसे, इस का उल्लेख यथास्थान होगा।

हम लोगों की दिन-चर्या भी सीधी थी। दिन-रात दो-दो घंटे बाद हम लोग किरमिच की नौका में झील पर जा कर अपने विद्युद्दर्शक की गहराई

बदल देते थे। आठ घंटे बाद विद्युद्दर्शक को निकाल कर उस में से फ़िल्म निकाल कर दूसरी फ़िल्म लगा देते थे। गुरुजी प्रत्येक बार जाते थे;



में और बड़े जोशी जी बारी-बारी से उन के साथ; छोटे जोशी जी को इस से मुक्ति थी। किन्तु, यहाँ पर कॉस्मिक किरणों के विषय में कुछ परिचयात्मक विवरण देना उचित होगा।

*　　　*　　　*

सन् १८९५ में रांट्जेन द्वारा क्ष-किरणों की खोज भौतिक विज्ञान के इतिहास में एक महान् घटना हुई, क्योंकि इस से उस नयी विचार-परम्परा का आरम्भ हुआ जिस ने पदार्थ की अन्तर्रचना के विषय में वैज्ञानिकों की धारणाओं को आमूल बदल दिया। अगले कुछ वर्षों में ही रेडियम-धर्मिता और रेडियम धातु का पता लगा, और फिर विकीर्ण-शक्ति में आल्फ़ा, बेटा और गामा किरणों का पृथक्करण हुआ।

अंग्रेज़ी वैज्ञानिक विल्सन ने जब अपने 'कृत्रिम मेघमंडल' के द्वारा इलेक्ट्रन को देखना और उन के चित्र लेना सम्भव कर दिया, तब यह देखा गया कि कुछ ऐसे भी विद्युत्कण हैं जो साधारण इलेक्ट्रन से सर्वथा भिन्न आचरण करते हैं और कहीं अधिक शक्ति तथा भेदकता रखते हैं। विल्सन का अनुमान था कि ये कण ऊपर वायुमंडल से आते हैं। ऐसा ही प्रभाव अन्य अन्वेषकों ने भी विद्युद्दर्शकों पर लक्ष्य किया था, और उन्होंने अनुमान किया था कि ये किरणें पृथ्वी की ऊपरी पपड़ी में ही विकीर्ण होती हैं—सम्भवतया उस में पाये जाने वाले रेडियम-धर्मी यूरेनियम में। किन्तु १६०६ में स्विट्ज़रलैंड में गेकेल ने, और अनन्तर हेस और कोल-हार्स्टर ने सिद्ध किया कि ये किरणें पृथ्वी-तल की अपेक्षा ऊंचाई पर वायु-मंडल में अधिक सक्रिय होती हैं और गुब्बारे में ऊपर भेजे गये विद्युद्दर्शक में आविष्ट विद्युत् को अधिक विसर्जित कर देती है। इन किरणों को उच्चतलीय किरण अथवा 'कॉस्मिक (कॉस्मस—विश्वमंडल की) किरणों की अभिधा दी गयी। स्विट्जरलैंड के प्रोफ़ेसर आगस्त पिकार की गुब्बारे में दस मील (५२,००० फ़ुट) ऊँची उड़ान के जिस साहसिक कार्य ने दुनिया को चकित कर दिया था, वह मुख्यतया इन्हीं किरणों के अध्ययन के लिए हुई थी।

अमरीकी वैज्ञानिक आर० ए० मिलिकन (अनन्तर नोबेल पुरस्कार-विजेता) ने इन किरणों का अध्ययन आरम्भ किया। उन्होंने इन किरणों की तीव्रता का मापन भी किया। पृथ्वी के वायुमंडल में इतनी भेदक और शक्तिशाली किरणें उत्पन्न करने वाली किसी क्रिया, विधि या घटना की अनुपस्थिति में मिलिकन ने निष्कर्ष निकाला कि ये किरणें पृथ्वी के वायु-मंडल की चरम सीमा के भी बाहर से आती हैं। उस से पहले एक धारणा यह भी थी कि ये किरणें हमारे वायुमंडल के बाहरी स्तरों में कहीं उत्पन्न होती हैं।

जिस समय हमारा अभियान कोसरनाग गया, उस समय कॉस्मिक किरण-सम्बन्धी ज्ञान की यही अवस्था थी। यों अनुमान अनेक प्रकार के

थे, और उन्हीं के आधार पर विभिन्न देशों के वैज्ञानिक विभिन्न दिशाओं में खोज, यन्त्रों का आविष्कार और सम्बद्ध क्रियाओं-घटनाओं का मापन कर रहे थे। अमरीका में मिलिकन और काम्प्टन, यूरोप में पिकार बन्धु और अन्य वैज्ञानिक, इंगलैंड में ब्लैकेट, विशेष रूप से इन किरणों की खोज में दत्तचित्त थे। यह जाना जा चुका था कि कॉस्मिक कणों का विकीरण दिन और रात में समान होता है, जिस से सिद्ध होता है कि सूर्य से उन का सम्बन्ध नहीं है, और यह भी लक्षित हुआ था कि पृथ्वी के चुम्बकत्व का उन पर प्रभाव पड़ता है जिस से भूमध्य में किरणों का आयतन न्यूनतम होता है और बढ़ते हुए उन्नतांश के साथ बढ़ता जाता है (क्ले, १९२७)। किन्तु, क्या इन किरणों को नियन्त्रित किया जा सकता है? क्या इन के द्वारा मशीनें चलायी जा सकती हैं? और इस प्रकार 'चिरन्तन गतिशीलता' की ग्रन्थि खोली जा सकती है? इन किरणों का शरीर-तन्तुओं के निर्माण-वार्धक्य-क्षय पर क्या प्रभाव पड़ता है? क्या उसे वश किया जा सकता है? क्या इन किरणों का चैकित्सिक उपयोग हो सकता है—यथा कैंसर के इलाज में? क्या इन की वैद्युतिक शक्ति का मारक उपयोग है—आग लगाने, विमान गिराने, जहाज उड़ाने में? ये सब प्रश्न वैज्ञानिकों को उत्सुक कर रहे थे। शुद्ध विज्ञान के क्षेत्र में यह प्रश्न भी कौतूहलवर्द्धक था कि इन किरणों से पदार्थ की अन्तर्रचना पर, शक्ति और पदार्थ के सम्बन्ध पर क्या प्रकाश पड़ता है।

किरणें तरंगों में चलती हैं। किरणों की गति पृथक् हो सकती है, तरंगों की लम्बाई अलग हो सकती है और आवृत्ति (फ़्रीक्वेंसी) भी। एक ही गति से चलने वाली दो किरणों में एक की तरंगें लम्बी हों और एक की छोटी, तो स्पष्ट है कि लम्बी तरंग की 'फ़्रीक्वेंसी' कम होगी और छोटी की अधिक, जैसे एक-सी चाल चलने वाले दो व्यक्तियों में से जो छोटे डग रखेगा उसे अधिक डग चलने होंगे। इसे यों कहें कि लम्बाई और 'फ़्रीक्वेंसी' में विपरीत आनुपातिकता है। ध्वनि की किरणें (या लहरें) लम्बी होती हैं, उन का स्वभाव भी भिन्न है, उन की गति भी कम होती है।

प्रकाश की गति रखने वाली किरणों में ताप की किरणें (या लहरें) लम्बी होती हैं और उन की 'फ्रीक्वेंसी' कम होती है। अनुक्रम में इस के बाद दृश्य किरणों से नीचे 'इन्फ्रा रेड', अर्थात् लाल से नीचे, लम्बी या कम 'फ्रीक्वेंसी' की किरणें आती हैं; ये चक्षु से नहीं दीखतीं किन्तु इन के सहारे प्राकृतिक दृश्यों के फ़ोटो लिये जाते हैं, यथा धुन्ध-कुहरे में। फिर क्रमशः दृश्य आलोक के रंग—लाल, नारंगी, पीला, हरा, नीला, बैंगनी। फिर दृश्य किरणों से ऊपर की 'अल्ट्रा वायलेट' अर्थात् बैंगनी से अधिक 'फ्रीक्वेंसी' वाली किरणें। इस के बाद रांट्जेन या एक्स-किरणें, फिर गामा किरणें और सब से अन्त में कॉस्मिक किरणें।

एक बात और है। जिस तरंग की लम्बाई जितनी कम और 'फ्रीक्वेंसी' जितनी अधिक होगी, उस की भेदकता भी उतनी अधिक होगी। अर्थात्, 'फ्रीक्वेंसी' और भेदकता में सीधी आनुपातिकता है, लम्बाई और भेदकता में विपरीत आनुपातिकता। इस से परिणाम यह निकला कि यदि हम दो प्रकार की किरणों में से एक की लम्बाई और 'फ्रीक्वेंसी' जानते हों तो दूसरी के साथ उस की भेदकता की तुलना कर के दूसरी की लम्बाई और 'फ्रीक्वेंसी' का अनुमान कर सकते हैं, और इसी प्रकार की तुलना द्वारा उसे उत्पन्न करने वाली वैद्युतिक शक्ति का भी। कॉस्मिक किरणों के अध्ययन में यह बात महत्त्व रखती है। हम लोग इसी भेदकता का अध्ययन कर रहे थे। विद्युद्दर्शक के तारों को आविष्ट कर के पानी के नीचे विभिन्न तलों पर रख कर देखते थे कि उस का आवेश किस गति से नष्ट होता है। क्वार्ट्ज़ से खींचे हुए दो अत्यन्त सूक्ष्म तार इस



में लगाये गये थे और शून्य (वैकुअम) में बन्द थे। समान वैद्युतिक आवेश से दोनों तार एक दूसरे को विकर्षित करते थे और उन के बीच में फ़ासला पड़ जाता था। तारों के नीचे एक बैटरी की बत्ती थी, ऊपर एक छोटी-सी दरार जिस में से दोनों तारों की स्थिति देखी जा सकती थी। इस से ऊपर एक घड़ी में फ़ोटो की फ़िल्म लगा कर रक्खी जाती थी। घड़ी का सम्बन्ध बैटरी से था। प्रत्येक आठ मिनट बाद बल्ब जल जाता था और फ़िल्म पर तारों का फ़ोटो खिंच जाता था। दो घंटे बाद तल में परिवर्त्तन कर देते थे, आठ घंटे की फ़िल्म निकाल कर, धो कर, फिर अन्वीक्षक से तारों की दूरी और उस में परिवर्त्तन की दर नाप लेते थे। फिर इस का ग्राफ़ बना कर देखते थे कि किस गहराई पर किस दर से आवेश नष्ट होता है।

यह सन् १९३० की बात है। उचित होगा कि उस के बाद अब तक की खोज का संक्षिप्त परिचय भी यहाँ दे दिया जाय। गुरुजी ने उस के बाद जावा के पास समुद्र-तल में भी माप लिये थे। मैं तब जेल में था। चाहने पर और उन के जमानत पर छुड़ा ले जाने का यत्न करने पर भी न जा सका। अब वह शिकागो में काम कर रहे हैं। अब भारत में इस विषय के प्रमुख अन्वेषक प्रोफ़ेसर भाभा और मेरे ही कालेज के डा० गिल हैं। डा० गिल हिमालय में दो अभियान कर आये और अब विमान द्वारा भूमध्य-मेखला के ऊपर के वायुमंडल के अध्ययन में लगे हैं। प्रोफ़ेसर आगस्त पिकार एक पनडुब्बी बना रहे हैं जिस में बैठ कर गिनी की खाड़ी में वह समुद्र-तल के तीस हज़ार फुट नीचे जा कर किरणों का मापन करेंगे। उन के भाई जाँ पिकार आकाश में और ऊँचा उड़ने की तैयारी कर रहे हैं। रूसी वैज्ञानिक ज़्दानोव भी परमाणु पर कॉस्मिक किरणों के प्रभाव की खोज में लगे हैं और इसी के लिए उन्हें एक लाख रूबल का 'स्टालिन पुरस्कार' मिला है।

सन् १९३७ में प्रो० ब्लैकेट ने सिद्ध किया कि कॉस्मिक किरणें मुख्यतया एक नये विद्युदाविष्ट अणु की धारा होती हैं, जो इलेक्ट्रन से

दो सौ गुना भारी होता है और जिसे उन्होंने 'मीसन' का नाम दिया। उन के प्रमाण से समुद्र-तल पर आपतित किरणों में ७५ प्रतिशत मीसन होते हैं और शेषांश में इलेक्ट्रन, प्रोटन और गामा किरणें।

ब्लैकेट ने अनुमान किया कि मीसन तब उत्पन्न होते हैं जब कॉस्मिक किरणें वायुमंडल के बाहरी स्तरों में परमाणु-केन्द्रकों पर आपतित होती हैं और केन्द्रकों को भेद देती हैं। मीसन प्रभूत वैद्युतिक शक्ति ले कर भूमंडल पर गिरते हैं। इस शक्ति का 'पोटेंशियल' १०० करोड़ वोल्ट से अधिक होता है और भेदकता इतनी कि जल के नीचे ३ हजार फुट गहरे तक उन का प्रभाव पहुंचता है।

अब अनुमान किया जाता है कि मीसन ही परमाणु के केन्द्र को बांधे रखता है और विस्फोटित होने से बचाता है। इस से केन्द्रक के स्थायित्व का भी कारण समझ में आ जाता है। किन्तु, इस प्रश्न का अभी तक कोई उत्तर नहीं मिला कि कॉस्मिक किरणें आती कहाँ से हैं, उत्पन्न कैसे होती हैं; अर्थात् किरणें अभी तक 'आकस्मिक' ही हैं। आरम्भ में जिसे कॉस्मिक किरण कहा गया था, वह वास्तव में उन से उत्पन्न होने वाला द्वैतीयिक प्रभाव ही था। एक अनुमान यह है कि कॉस्मिक किरणें आकाश-गंगा के पार कहीं शून्य में उत्पन्न होती हैं। कैसे उत्पन्न होती हैं, इस का उत्तर यह दिया जाता है कि कार्बन, नाइट्रोजन, आक्सीजन, अलुमिनियम, सिलिकन आदि के परमाणुओं के विनाश से ये किरणें उत्पन्न होती हैं। ब्लैकेट कहते हैं कि "मेरा अनुमान है कि ये किरणें उस युग का अवशेष हैं जब विश्व अभी नया था। सम्भव है कि वे करोड़ों वर्ष पहले सृष्टि के किसी सुदूर कोने में होने वाले किसी विश्वव्यापी विभ्राट् से उत्पन्न हुई हों। जो भी हो, यह खोज का रोचक क्षेत्र है।"

संक्षेप में यही कॉस्मिक किरण-सम्बन्धी ज्ञान की वर्तमान अवस्था है।

*　　*　　*　　*　　*

किन्तु, हम यन्त्र के अधीन नहीं थे। ढांचे में चलते हुए भी हमारा जीवनानन्द अनेक रन्ध्रों से फूट निकलता था।

गुरुजी ने शह दी। मुझ से बोले, "न्यूटन की नौकरानी के बाद विज्ञान का दूसरा अहितकारी तुम हो।"६

छोटे जोशी एक तरफ़ उदास हो कर बैठ गये। गुरुजी ने कहा, "नेत्रर से डाई, जोशी—शायद और पौधा मिल जाय। एक अगर नाव से सटा हो सकता है तो दो भी हो सकते हैं।"

जोशी उछल पड़े। "चलिए, देखें।"

दोनों नाव की ओर चले। पीछे-पीछे मैं भी। नाव पानी से निकाल कर सूखे में रखी हुई थी, चारों ओर से उसे देखा गया। तब गुरुजी ने झुक कर किरमिच की सीवन से एक गुथीला धागा तोड़ कर कहा, "लो, इसे पानी में डाल लो, अभी मुरझाया है, ताज़ा हो जायगा।"

छोटे जोशी अवाक् उन की ओर घूरते रहे। थोड़ी देर बाद मुड़े और मुझे घूरने लगे। फिर चुपचाप तम्बू की ओर लौट गये। उस के बाद तीन दिन वह मुझ से बोले नहीं, एक दिन तो खाना भी न खाया।

हम लोगों के साथ दो विद्युद्दर्शक थे। एक छोटा, जिसे हम 'तोते का पिंजरा' कहते थे, और जो पहले अभियान में भी हो आया था। एक बड़ा, जो इस अभियान के लिए तैयार किया गया था। लगभग १५० फ़ुट की गहराई तक इस को रखा जा चुका था। एक दिन २०० फ़ुट नीचे डाला गया तो देखा, उस के भीतर पानी चला गया है। बाहरी वर्म के टाँके उनने पानी का दबाव न सह सके थे। टाँका लगाने का सामान तो हमारे पास था, पर उस ऊँचाई पर आग की शिखा उतनी गर्म न होती थी, और हवा का दबाव बढ़ाने के साधन हमारे पास न थे। अतः कोंसर-नाग से माहीनाग तक उतर कर टाँका लगाया गया और फिर कोंसरनाग परीक्षा के लिए लाया गया; माहीनाग का पानी गहरा न था। आना-जाना एक दिन का काम था और टाँका सफल न होने के कारण तीन-

६ न्यूटन की नौकरानी ने उनके कमरे की सफ़ाई करते हुए उनके शोध ग्रन्थ के जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े पन्नों को समेट कर आग के हवाले कर दिया था।

चार बार जाना पड़ा। इस प्रकार हमारा तीन सप्ताह का अभियान लम्बा होने लगा। इस बीच एक दुर्घटना घटी।

बड़े विद्युद्दर्शक को २५० फुट गहरा डाला गया। विद्युद्दर्शक को एक लम्बी रस्सी के कुंडे में अटका कर डाल देते थे, ऊपर का सिरा एक तैरने वाले ड्रम के साथ लगा रहता था। समय होने पर यन्त्र को ऊपर खींच कर रस्सी से अलग कर लेते थे, और आवश्यक परिवर्तन के बाद फिर लटका देते थे। झील की गहराई कितनी थी इस की थाह हम न पा सके। ३५० फ़ुट तक गहराई हमने नापी थी और हमारी रस्सी चुक गयी थी। साधु हम लोग थे नहीं कि गहराई मापने के चरम उपाय बरतते !⁷

दो घंटे बाद गहराई बदलने जाना चाहिए था, किन्तु उस दिन तेज हवा थी और झील में छालियाँ उठ रही थीं। हमारी किरमिच की खटिया-सी नौका उस में नहीं जा सकती थी। तीन घंटे बाद जब हम पहुँचे तो रस्सी ढीली करने पर वह कुछ हल्की-सी मालूम हुई। उसे खींच कर निकाला गया। वह क्रमशः हल्की होती हुई ऊपर उठी और काँपते हाथों से गुरुजी ने जब उस का अन्तिम अंश निकाला तो देखा, उस के नीचे कुंडा छूंछा लटक रहा था; विद्युद्दर्शक नहीं था !

जो लोग कम बोलते हैं, वह यों ही मुझे अच्छे लगते हैं। किन्तु जो लोग काम के वक्त एक शब्द भी नष्ट नहीं करते, उन के सामने मैं श्रद्धाविनत हूँ।

---

७ पहाड़ी में एकाधिक झील के बारे में ऐसी प्रसिद्धि है कि उस की गहराई अतल है। उसे एक साधु ने नापना चाहा था और इस के लिए वह दस वर्ष तक रस्सी बटता रहा। फिर पत्थर बांध कर उसने रस्सी डालना शुरू किया, किन्तु रस्सी चुक गयी, थाह न मिली। तब उसने हार कर अपनी जटा भी रस्सी के छोर के साथ बांधी और स्वयं पानी में कूद पड़ा। "जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ" का यह अच्छा उदाहरण है और रूपक के तौर पर इस कथा का अपना सौन्दर्य है, किन्तु झीलों की भौतिक गहराई की माप यों नहीं हो सकती, ऐसी हमारी धारणा थी !

गुरुजी ने रस्सी पानी में डाल दी, तैरने वाले ड्रम को देखा, और एक बार चारों ओर नज़र दौड़ा कर उस की स्थिति मानों निश्चित कर ली। फिर बोले, "वापस ले चलो, वी मस्ट ड्रैग द लेक।"

मैंने चुपचाप डाँड़ खेना शुरू किया। मन ही मन गणित के एक प्रश्न से उलझा रहा। ढाई मील लम्बी, पौन मील चौड़ी झील में कितने वर्ग गज़ होते हैं, और हमारी दो वर्ग गज़ की नौका, घंटे में दो मील की चाल से, कितने घंटे या दिन-सप्ताहों में उसे नाप सकेगी? कुएँ में काँटा डाल कर डोल निकाल लेना एक बात है; यहाँ पर, इतना बड़ा प्रसार जिस में ठीक स्थान का पता नहीं, ड्रम तैर रहा है अवश्य, पर हवा उसे कितनी दूर ले गयी होगी क्या पता, फिर विद्युद्दर्शक के ऊपर इतना छोटा कुंडा है कि उसे अटकाना लगभग असम्भव है। फिर हमारे पास काँटे कहाँ हैं? एक ड्रम में लगा है, एक दूसरे विद्युद्दर्शक का निकाल लेंगे, एक फ़ालतू है; तीन सीधे काँटों से क्या होता है? झील की गहराई न जाने कितनी है; अगर हम विद्युद्दर्शक को देख भी लें तो भी उसे खींचना सम्भव नहीं...

किन्तु बोलना व्यर्थ था। कर्म बहुत से आघात सहने का एकमात्र उपाय होता है—फिर कर्म वह कितना ही असंगत क्यों न हो...

उस दिन, दूसरे दिन, तीसरे दिन हम लोग पागलों की तरह झील के मध्यभाग के चक्कर काटते रहे। नाव में दो ही बैठ सकते थे; मैं डाँड खेता, गुरुजी रस्सी डालते... जब मैं थक जाता तो किनारे जा कर जोशी जी से बदल लेता, वह डाँड़ खेते। हम तीनों बारी ले लेते, किन्तु गुरुजी जो रस्सी ले कर बैठे तो बैठे ही रहे। खाने-पीने की उन्हें सुध नहीं थी, हम लोगों के बहुत आग्रह करने पर यह सोच कर कि उन के न खाने से हम भी न खायेंगे वह दो कौर मुँह में डाल लेते। तीन दिन में उन के चेहरे का रंग ही और हो गया था, और इतने दिनों में बढ़ा हुआ वज़न फिर बराबर हो गया था। बड़े जोशी जी का तो कहना था कि उन के बाल भी अधिक पक गये हैं देखते-देखते...

दूसरे दिन गुरुजी ने कहा, "नया यन्त्र बनाने में कम-से-कम चार महीने लगेंगे; पिछली बार तो साल लगा था। यह साल तो गया।"

तीसरे दिन उन्होंने कहा, "अब तोते के पिंजरे में ही जितना काम लिया जा सके। कुछ तो नतीजा ले कर जाना चाहिए।"

हमने कहा, "हाँ।" और सब लोग काम में लग गये। पिछले तीन-चार दिन में किसी ने हजामत नहीं बनायी थी। अब मानो समझौता-सा हो गया कि काम पूरा हुए बिना दाढ़ी न बनायी जायगी।

काम और भी उत्साह से चलने लगा। किन्तु उत्साह जितना हो, काम तो अब कम था, और समय बहुत मिलता था। हमारा प्रवास लम्बा होता जा रहा था, और रसद की भी व्यवस्था करनी थी, अतः आठ दिन की रसद रख कर एक घोड़े वाले को चिट्ठी और आर्डर दे कर श्रीनगर भेजा गया। लौटते हुए शुपियाँ एक दिन में पहुँच सकते हैं, इस प्रकार पाँच दिन में आना-जाना हो सकता था; श्रीनगर में दुकान से पहले ही व्यवस्था कर ली गयी थी कि आर्डर मिलने पर सामान भेज देंगे। तीन दिन की गुंजाइश रखी गयी है, यह सोच कर हमारा खाने का क्रम पूर्ववत् चलता रहा।

एक दिन गुरुजी ने कहा, "तुम्हारा वह समाधि-लेख तैयार हुआ कि नहीं?"

मैंने कहा, "कैसा समाधि-लेख?"

"हमारे खोये विद्युद्दर्शक का समाधि-लेख, बल्कि सारे अभियान का।"

मैंने मन ही मन सोचा, गुरुजी अब विद्युद्दर्शक को ले कर ठट्ठा करने लायक हो गये, अब ठीक है। कहा, "नहीं तो, पूरा कर दूँ?"

"ज़रूर।"

तीन दिन खोद-खोद कर मैंने शिलालेख तैयार कर दिया: 'कॉस्मिक रे एक्सपेडिशन, अगस्त, १९३९', इसके बाद चारों के नाम और कालेज का नाम। इस शिला के आसपास बैठ कर फ़ोटो भी लिया गया। मैंने फ़ोटो लिया, अतः मेरे स्थान पर एक टोपी रख दी गयी।

अब उस अभियान का स्मारक यही फ़ोटो हमारे पास बचा है।



पाँच दिन हो गये।

रसद नहीं आयी।

'कल आ जायगी', यह सोच कर छठा दिन भी बीता, सातवाँ भी, आठवें दिन का राशन दो हिस्सों में बाँट लिया गया; रसद आ जायगी तब खत्म करेंगे।

नौवाँ दिन आ गया।

उतनी ऊँचाई और ठंड में शरीर की शक्ति और गर्मी बनाये रखने के लिए यथेष्ट और पौष्टिक भोजन अनिवार्य था। गूजरों से हमें जो दूध मिल जाता था, उस का बड़ा सहारा था। यों उस का स्वाद तो बहुत

से स्वादों और गन्धों का मिश्रण होता था जिन में अजवायन की गन्ध मुख्य थी, पर उस वैचित्र्य के हम आदी हो गये थे।

अब रसद चुक जाने पर दूध ही दूध रह गया। इधर दूध भी कम सुलभ हो गया था। गूजरों का नीचे को निर्यात आरम्भ हो गया था। फिर दूध से जी न भरता था। पहाड़ी दूध में घी का अंश भी बहुत कम होता है—घास-बूटी खा कर क्या मक्खन हो; फिर निरे पेय से काम नहीं चलता, कुछ चर्व्य अवश्य होना चाहिए। गुरुजी ने बताया कि वहाँ घास में होने वाले एक जंगली पौधे का शाक बन सकता है: वह उसे खा कर दिन काट चुके थे। इस बहुत छोटे पौधे की पालक-सी चौड़ी पत्ती होती है, बीच में एक लम्बे डंठल पर पीला फूल लगता है जो झरने पर रुई का गेंद-सा बन जाता है। तोड़ें तो डंठल से दूध निकलता है। हमने बहुत-सी पत्ती इकट्ठी कर के साग बनाया, नमक कुछ बचा हुआ था; साग कड़ुवा था, किन्तु पेट तो भरता था और 'ख़वास' को भी कुछ शमित करता था। उस के बाद दूध पी लेते। अब भी जैसे-तैसे पाँच-छः सेर दूध हमें मिल ही जाता था: उस के लिए ज्यादा खोज अवश्य करनी पड़ती थी।

पाँच दिन के अति-सात्विक भोजन के बाद घोड़े वाला आया। मालूम हुआ कि रास्ते में जब उसे ध्यान आया कि वह अपनी ससुराल से केवल तीन मील के फ़ासले से जा रहा है, तब उस से न रहा गया और वह स्त्री को देखने चला गया। जाती बार दो दिन वहाँ रह गया था; आती बार सीधा जरूर चला आता, किन्तु जिस दिन उसे लौटना था उस दिन ससुराल वालों ने सेदाऊ में आदमी बिठा रक्खा था; उसे फिर वहाँ जाना पड़ा नहीं तो बीवी से लड़ाई हो जाती। और बीवी को खुश करने के लिए वह हमारे राशन में से दो टीन मुरब्बे के और थोड़ी चीनी उसे दे कर तब कहीं आ पाया है।

उस की इस करुण कहानी ने वातावरण हल्का कर दिया। गुरुजी ने कहा, "आज शेव कर डालना चाहिए।"

मैंने कहा, "खानसामा को स्पेशल आर्डर देना चाहिए आज।"

शिलालेख के आसपास धूप में हम लोग नंगे वदन अपना-अपना उस्तरा-साबुन-ब्रुश-कटोरा ले कर बैठ गये। क्षौर-यज्ञ आरम्भ हुआ।

तभी देखा, कुंगवतन की ओर की ढाल से दो-तीन अजनबी चले आ रहे हैं। तम्बू देख कर पहले तो वह ठिठके—हम लोग भी उस समय प्रागैतिहासिक वनौकस यूथ-से उन्हें दीखे होंगे, शिला के आसपास किसी अभिचार में निरत—किन्तु फिर चले आये। हमारे इतने लम्बे प्रवास में यही एक टोली कोंसरनाग आयी; ये लोग भी छू-कबड्डी के खिलाड़ी-से ही आये थे और थोड़ी देर में चाय पी कर जाने वाले थे। हमने उन्हें रोक कर अपने 'स्पेशल आर्डर' के खाने में न्यौत लिया।

खाना खाते समय उन्होंने पूछा, "इस दूर स्थान में भी आप लोग इतना बढ़िया खाना रोज खाते हैं?"

हमने कहा, "जी नहीं, यह तो आप लोगों के सम्मान में है।" यह बिलकुल सच तो नहीं था, पर उस से पहले दिन तक तो हम लोग बूटियाँ उबाल कर ही दिन काट रहे थे, इस लिए झूठ भी नहीं था।

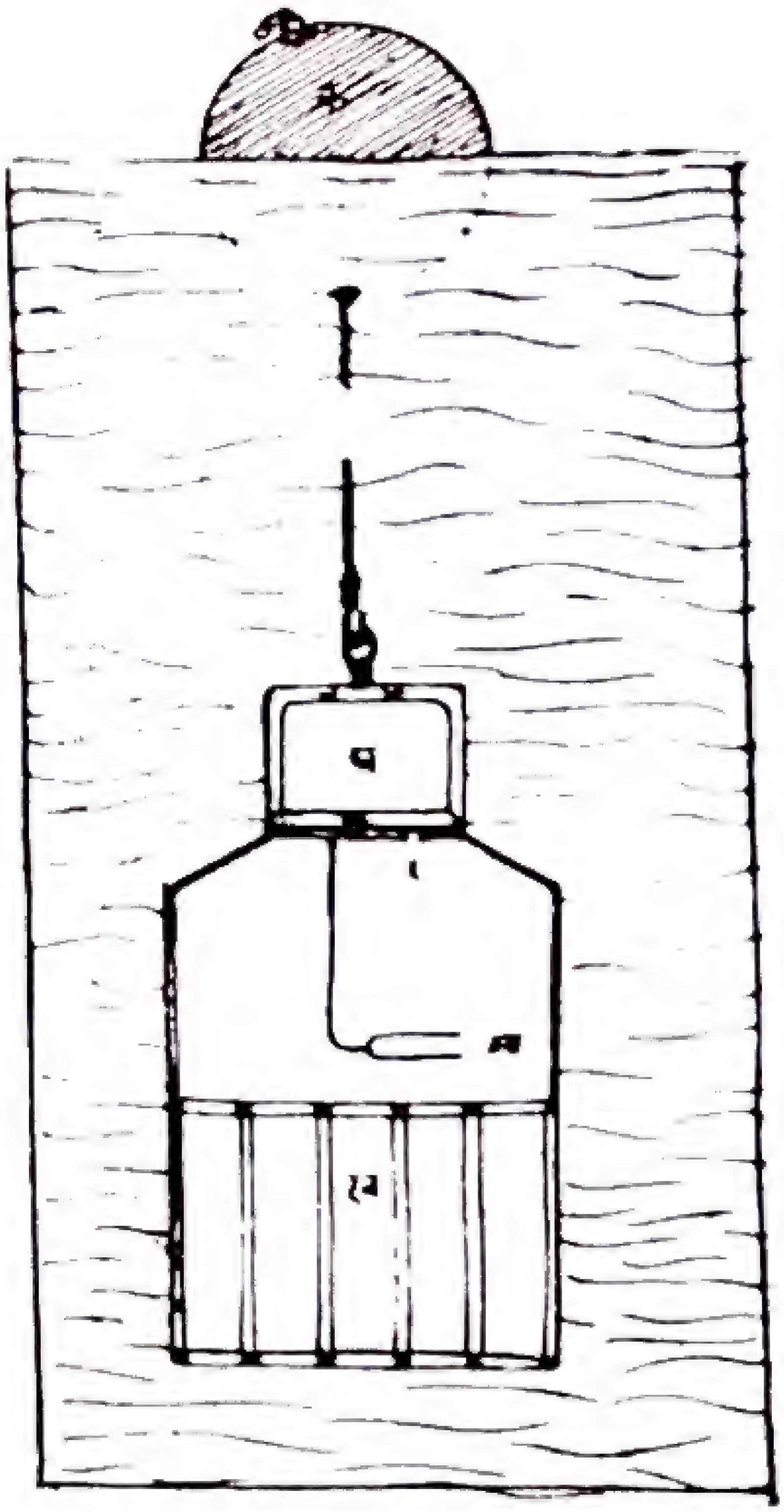
उन में से एक ने कहा, "तब तो आप ने हजामत भी हम लोगों के सम्मान में बनायी है, हम बहुत आभारी हैं आप के।"

गुरुजी ने कहा, "असल में हम आप लोगों को अपने एक साथी का श्राद्ध खिला रहे हैं; वह इसी झील में डूब गये बिचारे!"

वे लोग सहसा शंकित-चिंतित हो आये। "कब?"

मैंने कहा, "आज तेरही तो है। वह देखिए न उन का समाधि-लेख!"

और इतनी अवधि में 'देसवालिये' कोई वहाँ नहीं आये। आते थे गूजर लोग, जिन के लिए हम लोग अद्भुत जन्तु थे। वहाँ साधारण लोग तो रहते नहीं, फिर हम लोग झील में नहाते थे और तैरते थे, जब कि गूजर लोग कभी मुंह धोने के लिए भी उस पानी को नहीं छूते थे; बड़ी झील में जिन्न जो बसता है! हम लोग जब नहाने जाते तब वे



कास्मिक किरण विद्युद्दर्शक

क—तैरता हुआ ड्रम, ख—विद्युद्दर्शक का भीतरी शून्य भाग

आ—आविष्ट तार, घ—घड़ी और फोटो की फिलम, द-दरार

[देखिये पृष्ठ ११७–११८] [पृ० १२८ के सम्मुख



बनिहाल की सड़क

[पृ० १२९ के सम्मुख

पीछे-पीछे जाते और किनारे बैठे देखते रहते, और जब नाव झील पर जाती तब का तो कहना ही क्या! पहली बार हम लोग नाव ले गये तब जिन्होंने देखा उन्होंने पुकार कर सब को बुला लिया, और लगभग तीन सौ व्यक्तियों की भीड़ ने हमारा सन्तरण देखा।

इस के बाद एक दिन लम्बी दाढ़ी और तीखी आँखों वाला एक पगड़ीधारी व्यक्ति हम से मिलने आया। वह स्पष्ट ही उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त का व्यक्ति था, और लबादे और झोले से कुछ-कुछ फकीरनुमा मालूम होता था; मगर उस की आँखों की नाप-तोल कर आँकने वाली नजर, उस के कुछ फूले शिथिल विलासी गाल, और ओठों की कोर से नीचे जाती हुई गहरी क्रूर रेखाएँ आग्रहपूर्वक कहती थीं कि उस की वासना और चाहे जिधर रत हो, अध्यात्म की तरफ नहीं थी. . .

वह आ कर हमारे तम्बू के सामने बैठता हुआ बोला, "अस्सलामालेक।"

हमने कहा, "वलेकुम्।"

"सब खैर?"

"अल्लाताला की मेहर है।"

वह हम लोगों को आँखों से तौल कर मोल आँकता रहा। हम भी कौतूहली दृष्टि से देखते रहे।

अब वह गुरुजी को सम्बोधन कर के बोला, "हुजूर के वास्ते तोफ़ा लाया है।" एक मट्टी की हँड़िया उसने आगे बढ़ायी।

"शुक्रिया। क्या चीज है इस में?"

"हुजूर दूध है।"

गुरुजी ने मेरी ओर देखा। इशारों में हम लोगों ने बात कर ली। गुरुजी ने कहा, "आप का बहुत शुक्रिया। लेकिन हम लोगों को जरूरत के माफ़िक दूध तो गूजर लोग देते हैं। बगैर जरूरत के चीज नहीं लेनी चाहिए।"

मैंने कहा, "साहब मुफ़्त कोई चीज नहीं लेते हैं।"

"तो हुजूर जो चाहे दाम दे दीजिए।"

"कैसा दूध है, गाय का कि भैंस का?"

वह तनिक रुक कर बोला, "हुजूर, भैंस का।"

मैं समझा कि वह कुछ झिझका कि झूठ बोल दे, पर अन्त में सच बोल रहा है। मैंने कहा, "भैंस का दूध तो हम लोग नहीं पीते। गाय का होता तो ले लेते।"

उसने फुर्ती से कहा, "हुजूर यह तो गाय का दूध है। भैंस तो इस मुल्क में है ही नहीं।"

यह बात तो ठीक थी। गूजर भैंस पालते हैं अवश्य, लेकिन यायावरों में गाय ही प्रायः होती है, भैंस को जहाँ-तहाँ ले जाया नहीं जा सकता। और उधर भैंस हमने कहीं देखी भी न थी। किन्तु वह पहले क्यों झूठ बोला?

हमने कहा, "तुम पहले झूठ क्यों बोले, अब कुछ यक़ीन नहीं कैसा दूध है।"

"हुजूर सो तो आपको खुश करने को कहा; हम समझा आप गाय का दूध नहीं पीते हैं।"

"न भी पीते तो भी क्या, झूठ तो झूठ है।"

दूध न लिया गया। पर वह टला नहीं। बड़े जोशीजी ने कहा, "यह तो डाकू मालूम होता है, टोह लेने आया है।"

किन्तु अवांछित अतिथि को भी कैसे खदेड़ा जाय। हम लोग अपने-अपने काम में लगे। वह बैठा देखता रहा।

जब हम नाव ले कर पानी पर चले, तब भी वह किनारे पर बैठा देखता रहा। हम जब लौटे तब भी वहीं था। किन्तु तब बोला, "हुजूर, नाव पर जाना ठीक नहीं है।"

"क्यों?"

"उस में जिन्न रहता है। बहुत खतरनाक जिन्न है। इबलीस[६] है।"

हम हँस दिये।

उस ने फिर पूछा, "यह पिंजरे में क्या है?"

---

६ शैतान

गुरुजी ने हँस कर कहा, "यह हमारा जिन्न है। बहुत ताकतवर जिन्न है।"

उसने गम्भीर हो कर सुना। दीखा कि उसे विश्वास हो गया है। और वह मन-ही-मन जो हिसाब लगाता रहा, वह भी हम समझ सके: इन लोगों का जिन्न ताकतवर है, इन्होंने अपना जिन्न झील में छोड़ कर झील के जिन्न को पिंजरे में बन्द कर लिया है, इसी लिए ये बेखटके घूमते हैं. . . .

उस दिन वह चला गया। फिर वह रोज़ आने लगा, और क्रमशः उस के गुण हम पर प्रकट होने लगे।

वह जादूगर था। गूजरों का मन्त्री, पुजारी, वैद्य, जर्राह, साहूकार, पुरोहित, मास्टर—सब कुछ वह था। जिस गूजर की गायें सूखी होतीं वह उसे ज़रूरत के अनुसार रुपया देता, और सौदा पटा लेता कि अगर बछड़ा होगा तो उसका—बछड़े गूजरों के कम काम आते हैं—और इस के अलावा दूध वह जितना लेगा बत्तीस सेर के भाव, या घी बनवा कर लेगा तो रुपए का चार सेर . . . . यह दूध-घी वह गूजरों को ही नाम-मात्र मजदूरी दे कर शुपियाँ के निकट अपने आदमी के पास पहुँचाता, वहाँ उसे ढाई-गुने दाम मिलते। गूजरों की भेड़ों की कुल ऊन वह खरीदता, और खाने के लिए जब-तब एक भेड़ रूंगे में मिल जाती। और अपने इस साहूकारे की धाक बनाये रखने के लिए बाकी सब पेशे भी करता। गूजरों के तीस-एक बच्चों को वह पढ़ाता—उस के मदरसे की पढ़ाई थी दस तक गिनती और एक रुपए के आने और आनों के पैसे बनाने तक का गणित; 'लाइलाहाइल्लिल्लाह, मुहम्मद रसूल इल्लाह' तक धर्म और बस। 'ऊँची कक्षाओं' के पढ़ाने के लिए एक पुस्तक भी उस के पास थी—इसे सामने रख कर वह क्लास को व्यावहारिक ज्ञान सिखाता था। कौतूहल-वश यह 'टेक्स्ट बुक' मैंने देखी थी—मैल की पपड़ी जमे बेठन के भीतर उर्दू की 'स्त्रियों के गुप्त रोग और उनकी चिकित्सा' की चालीस पृष्ठ की फटी-सटी पुस्तक जो किसी कम्पनी ने अपनी दवाओं के सूचीपत्र को आड़ देने को छापी थी!

वही गूजरों का डाक्टर भी था। जब-तब उन्हें जड़ी-बूटी देता था, कभी तली हुई गिरगिट, दूध में उबाल कर मक्खन में छौंके हुए केंचुए या राब में पकाये हुए मेंढ़क, या सींग घिस कर बनायी हुई बटी, या अन्य ऐसी चमत्कारी दवाएँ भी दिया करता था, जिनका नाम सुनकर रोग भाग जाय और जिन्हें खाने पर न होता हुआ रोग भी आ लगे! सब से कम खतरनाक औषध शायद राख और कपूर का चूर्ण था जो वह सब चक्षु रोगों में सुरमे के रूप में देता था। मोटे 'प्लास' से डाढ़ भी वह उखाड़ सकता था। एक बुढ़िया गूजरी हम ने देखी जिस का सामने का एक दाँत बिल्कुल सीधा सामने को निकला हुआ था; मालूम हुआ कि हकीम साहब ने उस के प्लास से दाँत न खिचवाने पर दूसरी तरकीब यह बतायी थी कि दाँत के चारो ओर ताँत का डोरा बाँध कर उस से पत्थर लटका छोड़े—दाँत धीरे-धीरे निकल जायगा। दाँत निकला तो नहीं, किन्तु भार से थक कर बुढ़िया के किसी चट्टान पर माथा टेक कर बैठ रहने के कारण वह मुड़ कर सामने को उग आया। तब से दर्द भी कम हो गया (जिसका श्रेय हकीम साहब को मिला—या उन्होंने लिया)।

एक दिन उसने नाव में सैर करनी चाही। मैं तो राज़ी हो जाता—मैं सोचता था कि गूजरों में से कोई भी झील के आतंक से मुक्त हो सके तो वह उन्नति की ओर एक कदम होगा—पर गुरुजी ने मना कर दिया। उन्होंने सोचा कि अगर यह पानी पर डर गया तो नाव डुबा देगा, और अगर सकुशल लौट आये तो गूजरों पर और भी धाक जमायगा कि साहब ने अपना जिन्न मेरे हवाले कर दिया था, कि झील के जिन्न को काबू करने का मन्त्र मुझे दे दिया, या ऐसा ही कुछ। इस प्रकार गूजरों के जीवन पर उसकी जकड़ और कड़ी होगी और वे और गहरे दलदल में जा फँसेंगे......

'सृष्टि का सिरताज मानव' शक्ति के घोड़े पर चढ़ कर पतन के कितने गहरे गर्त में जा सकता है, इस की कोई सीमा नहीं है....

* * *

दूसरी सितम्बर को तड़के उठ कर बाहर निकला तो पंखों की फड़फड़ाहट सुन कर चौंका—कोई परेवे वहाँ नहीं देखे थे। फड़फड़ाहट झील की तरफ से आ रही थी।

फीके प्रकाश में देखा, झील की नीलिमा पर कुछ सफ़ेद तैर रहा है। बर्फ़ के टीले तब तक गल चुके थे। सहसा पहचाना कि यह जल-पक्षियों का झुंड है....मुरगाबियों की कोई जाति।

उस समय तीन-चार अलग-अलग झुंड थे। कुछ पक्षी सफ़ेद, कुछ भूरे से। दोपहर तक बीसियों झुंड हो गये।

घोड़े वाले ने कहा, "हुज़ूर अब यहाँ से चलना चाहिए। परसों बर्फ़ पड़ेगी।"

"कैसे मालूम है?"

पता लगा कि दूसरी या तीसरी सितम्बर को ये पक्षी झील पर उतरते हैं, और उनके पीछे-पीछे बर्फ़ आती है—तीसरे दिन अवश्य ही झील पर बर्फ़ पड़ती है—तब तक पक्षी अन्यत्र चले जाते हैं।

हमारा काम—जितना वह हो सकता था—लगभग पूरा हो गया था। तीन सितम्बर को प्रातःकाल हम लोगों ने कूच किया, शाम को शुपियाँ पहुँच गये। तब बदली घिर रही थी, और पीछे कौंसरनाग की ओर स्पष्ट ही तूफ़ान के आसार हो रहे थे। मन-ही-मन हमने देखा—हमारा शिला-लेख देखते-देखते बर्फ़ से ढक गया है। फिर झील पर पपड़ी जमने लगी है। मानों झील के जिन्न ने सहसा क्रुद्ध हो कर हमारे अनधिकार पद-प्रक्षेप का चिह्न-मात्र मिटा देने का निश्चय किया हो। कहाँ कौंसरनाग का चिरन्तन जिन्न, और कहाँ चार अज्ञ, अकिंचन मानव-द्विपद! क्या हुआ अगर वे कास्मिक किरणों की खोज में आये हैं—वे खोजी ही तो हैं जब कि जिन्न अपने चौड़े स्फटिक वक्ष में आकाश के अकथ रहस्यों को मुकुरित करता रहा है—न जाने कब से!

यों तो कौंसरनाग यात्रा का—और कास्मिक रश्मियों की खोज के उस अभियान का—यहाँ अन्त हो जाता है। किन्तु उसका अन्त स्वयं एक कहानी है, जिस का आरम्भ हम लोगों के श्रीनगर पहुँचते-पहुँचते हो गया!

हमारे पीछे श्रीनगर में बाढ़ आ गयी थी। किसी चित्रकार की निष्कम्प तूली से लिखी हुई-सी आँकी-बाँकी वितस्ता, सब सीमाएँ लाँघती हुई श्रीनगर की चौड़ी उपत्यका को भरती जा रही थी। पामपुर वाली सड़क के पास जल हिलोरें लेता हुआ देखा था, श्रीनगर पहुँचे तो पता लगा कि बन्ध के टूट जाने का डर है। इस लिए सेना को बुला कर उस पर तैनात कर दिया गया है। बन्ध नदी के किनारे पर मट्टी थोप-थोप कर बनाया हुआ ऊँचा कगार है, जिसके साथ-साथ श्रीनगर की बड़ी-बड़ी दूकानें भी चलती हैं। किन्तु श्रीनगर के संकट से भी अधिक चिन्तनीय बात हमारे लिए यह हुई कि हमने होटल में जो स्थान माँग रखा था वह हमें नहीं मिला—बाढ़ के कारण बहुत से जाने वाले रुक गये थे और बहुत से सैलानी श्रीनगर में जमा हो गये थे और सब होटल भर गये थे—बरामदों में लोग पड़े थे।

उधर ताँगे हमारा सामान उतारने को उतावले थे। हमने बन्ध पर ही सब सामान उतार कर खानसामा को वहाँ बिठाया और बजरों (हौस-बोटों) में स्थान ढूंढ़ने चले; पर कोई हमें रात रहने देने को राज़ी न हुआ। पानी अब भी घरघराता हुआ चढ़ रहा था, बजरे वाले सब सजग बैठे थे और वज़न बढ़ाने को तैयार न थे।

बहुत कह-सुन कर एक विराट् हौस-बोट में बने हुए होटल के मैने-जर को राज़ी किया कि हम चारों को रात-भर के लिए स्थान दे दें, और खानसामा को होटल के नौकरों वाले डोंगे में—जिस के लिए पचास रुपये देना ठहरा। किन्तु हम लोग जब बन्ध से अपना सामान उठवा कर पहुँचे, तब सामान को देखते ही उस ने कहा, "यह बोट पर नहीं आ सकता—आप लोग रह सकते हैं पर सामान बाहर ही रहेगा।"

इस के लिए हम तैयार न थे। हमें सामान की ही अधिक चिन्ता थी। अन्त में हम लोगों ने सामान के साथ खानसामा को एक तिरपाल और बरसाती दे कर छोड़ा, और विद्युद्दर्शक वाला बक्स और बिस्तरे ले कर आगे शरण खोजने चले। रात ग्यारह बजते-बजते आर्य-समाज के

बरामदे में इतनी जगह मिल गयी कि सामान रख कर अधलेटे हो कर सो रहे। उस में भी हम लोगों ने सन्तोष की उसाँस ली जो शीघ्र ही प्रगाढ़ निद्रा की नियमित साँस बन गयी।

सबेरे बन्ध पर ही एक अमृतसरी की दूकान पर उर्द की गर्म कचौरियाँ खायीं और दूध पिया। अमृतसर के चटोरे पारखी होते हैं और चाट वाले कारीगर; वहाँ की कचौरी और कुलफी-फालूदा अद्वितीय माने जाते हैं। अमृतसर में तो कचौरी खाने की जरूरत ही कभी नहीं पड़ी, पर श्रीनगर के उस कचौरी वाले की प्रशंसा अवश्य करूँगा। उस की कचौरियों पर हम लोग ऐसे मुग्ध हुए कि उस से पाँच-पाँच पैसे में चार-चार पैसे वाले लिफाफे खरीद कर हम सब ने चिट्ठियाँ लिखीं। तब यह न मालूम था कि डाक से हमीं पहले पहुँचेंगे, यद्यपि हमें भी निकलते-निकलते सात दिन और लग गये।

कचौरी खा कर हमने सामान की खबर ली। रात में वृष्टि हुई थी। सामान बुरी तरह भीग गया था। पीछे खोलने पर मालूम हुआ कि हमारे लिये हुए चित्रों के मूल नेगेटिव--गुरुजी के, जोशी जी के, और मेरे--सब भीग कर नष्ट हो गये थे। धोये जाने से पहले ही। एक पैकेट कुछ सूखा निकला, उसे तत्काल धोया, तो उस में निकले मेरे खोदे हुए हमारे 'समाधि-लेख' के दो चित्र!

कुछ कहने के लिए मैंने गुरुजी से कहा, "अब इस चित्र का ऐतिहासिक महत्त्व और भी बढ़ गया। पूरे अभियान का यही चित्र बचा है।"

उन्होंने अपनी परिचित वक्र मुस्कान के साथ कहा, "हाँ, और उसे चरम गौरव देने के लिए हम सब को भी बाढ़ में डूब जाना चाहिए था। पर मुझे तो इतिहास की अपेक्षा अपने प्राण प्यारे हैं।"

इस बात में तो सन्देह नहीं था, क्योंकि उन्हें इतिहास में रुचि कम थी। पर कभी सोचता हूँ, क्या विज्ञान के बारे में भी वह ऐसा कहते, तो सोचता ही रह जाता हूँ।

जो हो; वह परम ऐतिहासिकता भी हम लोग पाते-पाते रह गये,

देवताओं के अंचल में

जुलाई १९३५।

सिविल सेक्रेटेरियट के बड़े फाटक से बाहर निकलते ही मैंने लम्बी साँस ली। पुलिस का विभाग समाज की रक्षा के लिए और शान्ति की स्थापना के लिए बना है; लेकिन मेरा जब-जब उस से वास्ता पड़ा है, तब-तब मैं जैसे अपमान की आग में जल उठा हूँ। पुलिस की कृपा से मैंने चार वर्ष जेल में बिताये और उस के बाद भी डेढ़ साल से नजरबन्द हूँ, इसका मुझे क्षोभ नहीं है। लेकिन उस नजरबन्दी में जो थोड़ी सी गुंजाइश रखी गयी है कि मैं अनुमति ले कर बाहर जा सकूं इसका मुझे जब-जब मजबूरन फ़ायदा उठाना पड़ा है, तब-तब मुझे लगा है कि मैं पुलिस के सामने छोटा हो रहा हूँ... मुझे याद आता है, जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर लाहौर में आ कर नवाकोट में ठहरे, तब मैं उन के दर्शन करने इसी लिए नहीं गया कि जाने के लिए पुलिस से पूछना पड़ेगा। अनुमति फ़ौरन मिल जायगी, लेकिन पूछना तो पड़ेगा, पुलिस से पूछना पड़ेगा... आज भी गिरते हुए स्वास्थ्य को सँभालने के लिए जब पहाड़ जाना आवश्यक हो गया है, तब मैंने आ कर सुपरिंटेंडेंट पुलिस (सी० आई० डी०) से अनुमति ले ली है; उनसे यह आश्वासन भी पाया है कि वह मेरे किसी उचित काम में विघ्न नहीं डालेंगे और शीघ्र स्वास्थ्य-लाभ करने में मेरी भरसक सहायता ही करेंगे, लेकिन मैं उन्हें क्षमा नहीं कर सकता हूँ। मेरी जेब में जो चिट्ठी पड़ी है, उस में लिखा है "...को अनुमति दी जाती है कि दो महीने के लिए..."। मुझे पहाड़ पर या समुद्र पर या जहन्नुम में जाने की अनुमति देने या न देने वाला कोई क्यों है?

कवि गा गये हैं:

आइ एम द मास्टर आफ़ माइ फ़ेट
आइ एम द कैप्टेन आफ़ माइ सोल

और हर-एक युग में हर-एक आदमी की आत्मा ने अपने-अपने ढंग से इस की दाद दी है; लेकिन फिर भी वह अपनी तकदीर दूसरे के हाथ सौंपता आया है, अपनी आत्मा पर दूसरे का आधिपत्य स्थापित कराने में खुद साधन बनता आया है।

लेकिन मेरे पास चारा नहीं है—अपने अभिमान को पी ही जाना है...मैं उसे कायम रख के स्वास्थ्य को नष्ट होने दे सकता हूं, मुझे परवाह नहीं है; पर अभी इतना कुछ करना है...इतने बिखरे हुए सूत्रों को समेटना है। मेरी उस लम्बी सांस की यही कहानी है।

*   *   *

रात ग्यारह बजे लाहौर से रेल में बैठा, तड़के चार बजे पठानकोट में गाड़ी बदल कर पालमपुर, कांगड़ा, बैजनाथ इत्यादि को लाँघता हुआ तीसरे पहर जोगेन्द्रनगर पहुँच गया।[१] यहाँ पर मंडी हाइड्रो-इलेक्ट्रिक स्कीम का केन्द्र है—उहल नदी का पानी बाँध कर दो मील लम्बी सुरंग द्वारा बिजलीघर तक लाया जाता है, और वहाँ उस से इतनी बिजली पैदा की जाती है, जो पंजाब के कई जिलों के लिए पर्याप्त है। कारखाना और नदी के हेड-वर्क्स दर्शनीय हैं, और वहाँ तक पहुँचने के लिए जिस रस्से से खिचनेवाली ट्राली पर बैठ कर जाते हैं, उसकी सवारी भी एक चीज है; लेकिन यह सब मैं कई वर्ष पहले अपने छात्र-जीवन में देख चुका था, इस लिए फ़ौरन ही मंडी जाने वाली मोटर में बैठ कर मैं 'देवताओं के अंचल' कुल्लू की ओर बढ़ चला। पालमपुर से आगे खेतों की हरियाली और आकाश की नीलिमा देख कर लाहौर का अवसाद धीरे-धीरे मिटने लगा था; जोगेन्द्रनगर से कुछ पहले चीड़ के वृक्ष देख कर तबीयत एकाएक फड़क उठी थी...पृथ्वी माता के आकाश की ओर उठे हुए इन अभयद हाथों के तले रहने का सौभाग्य जिसने पाया है, वही जानता है कि चीड़ वृक्षों को देख कर ही हृदय में कैसे अनिर्वचनीय रस का

१—अब यहाँ रेल सिर्फ बैजनाथ तक जाती है, बैजनाथ से जोगेन्द्रनगर का अंश आर्थिक दृष्टि से अनुपयोगी पाया गया था।

संचार हो आता है...लारी में बैठा, तब चित्त प्रसन्न था—यहाँ तक कि लारी जब सड़क के उतार-चढ़ाव के कारण डोलने लगी और कभी-कभी सड़क पर से बह कर जाने वाले पहाड़ी झरनों के पानी में छप्-छप् कर के स्वयं उछलने और कीचड़ उछालने लगी, तब मैं उस यात्रा का वर्णन करने के लिए तुकबन्दी की कड़ी पर कड़ी जोड़ने लगा। लारी के प्रत्येक दचके के साथ एक कड़ी और जुड़ जाती, तब मैं पूरी तुकबन्दी दुहरा लेता कि याद हो जाय और पड़ाव पर पहुँच कर लिख सकूं।

लारी का इंजन गर्म हो गया, अगली सीट पर बैठे मेरे पैर जलने लगे। मैंने लौट कर पीछे देखा; लेकिन पीछे और बुरी हालत थी। कई एक सवारियाँ बमन कर रही थीं—तीन-चार क़ै होने के बाद अब उन्हें इतनी सुध नहीं रही थी कि मुँह बाहर ही निकाल लिया करें। मैं फिर आगे देखने लगा, 'कविता' आगे नहीं चली लेकिन जिस उद्देश्य से उतनी बनी थी, उस के लिए उतनी ही काफ़ी थी। मैं अपनी छोटी बहन को साथ नहीं ला सका था, तब उसने वचन लिया था कि रोज़ की सैर का वर्णन उसे लिखता रहूँगा।

चार घंटे की यात्रा के बाद हम लोग दिन छिपते मंडी पहुँच गये।

*　　　*　　　*

डाकबँगला दूर था; ड्राइवर ने बताया कि डाकघर के पास ही एक होटल है, और मेरा सामान कुली को उठवा दिया कि वहाँ ले जाय।

लकड़ी के दुमंजिले मकान की दूसरी मंज़िल में छज्जे का एक कोना लकड़ी के परदे द्वारा अलग कर दिया गया था। नसैनी से चढ़ कर वहाँ जाते थे। एक तरफ़ एक चारपाई किसी तरह अँटा दी गयी थी, बाक़ी जगह एक दरी का टुकड़ा बिछा था, जो मैल और चिकनाई की जमी हुई पपड़ी के कारण 'लिनोलियम' बन गया था। किवाड़ कोई नहीं था।

मैं कमरे के एक तरफ़ खड़ा हो गया। नीचे बाजार का चौक था। सामने मंडी के महाराजों का पुराना महल, जहाँ अब कचहरी है। होटल का नौकर बिस्तर खोलने लगा। मैंने कहा, "क्या

ज़रूरत है, यही दरी खुली है। यही बिछा दो। ठंड तो है नहीं, चादर ओढ़ कर सो रहूँगा।"

"बाबूजी, मोटा-सा बिस्तर बिछाइये। चारपाई में इतने खटमल हैं कि आप याद करेंगे।"

मैंने मुस्करा कर कहा, "अच्छा भई।"

* * *

बिस्तर पर लेट कर (बैठने में ऐसा मालूम होता था कि बीच बाजार में बैठा हूँ—आड़ तो कोई थी नहीं) मैं बहन को पत्र लिखने लगा। पत्र क्या वह तुकबन्दी नकल करने लगा, जो राह में बनी थी:—

अप ए खड मेंड डाउन ए खड
एक्रास ए खड एस्प्लेंश इन मड
दिस इज़ द वे टु कुलू !
टावेल, सोप, एंड मिरर, टू ?
बट यू'व बुक्ड योर लगेज थ्रू !
नाउ यू'र इन ए प्रेटी स्टू—
ह्वाट'स द यूस आफ़ प्राओज़िंग
'आइ'म ए फूल, ऊ !'
सच इज़ द वे टु कुलू !
ओ हाउ हैपी आइ वुड बी
विद ए स्टीमिंग कप आफ़ टी
डाउन एट होम फ़ार यू एंड मी
एंड कुलू माइट बी ब्लोन टु
हेल आर होनोलूलू !
ओ द वे टु कुलू !

(इस में अगला पद मैं नहीं दे रहा हूँ; इतना कहना काफ़ी है कि उस में कुलू से उल्लू की तुक मिलायी गयी थी।)

कुछ खटका-सा हुआ, तो मैंने आँख उठा कर देखा। कमरे के प्रवेश-

मार्ग के सामने दो छोटी-छोटी लड़कियाँ खड़ी थीं। दोनों की बाँहों पर छोटी-छोटी फूलों से भरी हुई डालियाँ थीं।

मैंने कुछ विस्मित होकर पूछा, "क्या है ?" बिना बोले वे मेरी ओर बढ़ आयीं। एक-एक मोतिये का महकता हुआ गजरा दोनों ने मेरे गले में डाल दिया, फिर अपने पहले स्थान पर जा कर खड़ी हो गयीं।

मुझे अच्छा-सा लगा। पिछले पाँच सालों में जितने अलंकार मैंने जाने थे, सब लोहे के ही बने थे। मेरा जी नहीं हुआ कि पैसे दे कर उस मधुर घटना को नष्ट करूँ।

लेकिन ऐसी घटनाएँ बनी ही रहें, तो सही नहीं जातीं। किसी तरह तोड़ना ही होता है उन्हें।

मैंने पूछा, "तुम लोग कौन हो ?"

उन्होंने एक साथ ही उत्तर दिया, "बाबूजी, हमने फूल दिये हैं।"

मुझे लगा कि यह उत्तर असंगत है; लेकिन तत्काल ही मैं समझ गया कि फूलों का मोल चुकाना होगा। मैंने हाथ बढ़ा कर सिरहाने पड़े हुए बटुए में से दो इकन्नियाँ निकालीं। एक लड़की को इकन्नी दी, तो वह कुछ घबड़ा कर कहने को हुई, 'भाँज नहीं है'; लेकिन जब उस ने देखा कि दूसरी लड़की अलग इकन्नी पा रही है, तब एकदम से खिल उठी; और दोनों भाग गयीं।

मैंने फिर चिट्ठी उठायी, लेकिन लिखने को मन नहीं हुआ। मैं लेटा हुआ पिछले पाँच नष्ट हुए वर्षों की बात सोचने लगा—नष्ट ही तो हुए वे। मेरे मस्तिष्क ने निस्सन्देह उन से बहुत लाभ उठाया, लेकिन अनुभूति—मुझे लगता है कि अनुभूति का मैं दिवालिया हो गया हूँ...

*   *   *

सवेरे उठते ही सुना, रियासत का बैंड सूर्योदय का स्वागत कर रहा है। मंडी के राजा सूर्यवंशी हैं, अतः जब वह मंडी में होते हैं तब सायं-प्रातः सूर्य को बिदाई और स्वागत के लिए बैंड बजता है।[२] जल्दी-

२ कहना न होगा कि यह रियासती युग की बात है !

जल्दी बिस्तर बाँधकर कुली के सिपुर्द किया, होटल के पैसे चुकाये—भोजन के पाँच आने, कमरे के आठ—शहर का एक चक्कर लगा कर उड़ती हुई निगाह से व्यास नदी के तट पर बने हुए बीसियों सुन्दर देवस्थान देखे और ऊपर पहाड़ पर बना हुआ किला, जिस में मंडी के राजा अपनी "अविश्वसनीया" रानियों को क़ैद कर दिया करते थे; और फिर मोटर में आ बैठा।

'यहाँ से देवताओं का अंचल आरम्भ होता है,' इस का बड़ा बढ़िया प्रमाण यह मिला कि मानवों की सृष्टि मोटर को देवताओं की सृष्टि मानव के पीछे-पीछे चलना पड़ा। मंडी से कुलू-प्रदेश में जाते हुए व्यास नदी का एक रस्सी का झूलना पुल पार करना पड़ता है, उस पर से लारी का जाना ख़तरनाक है। लारी चार मील की रफ़्तार से तेज न चले, इस का प्रबन्ध यह किया गया है कि पुल का चौकीदार अपनी पीठ पर एक तख़्ती टाँगे (जिस पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा है—'चार मील रफ़्तार। इस आदमी के पीछे-पीछे इसी की चाल से चलो!') आगे-आगे चलता है और मोटर उस के पीछे चलती है। पुल के दोनों ओर पहरा पड़ा रहता है कि चौकीदार की अनुमति के बिना कोई आर-पार न जा सके।

दस बजे के करीब हम लोग औट पहुँचे। यहाँ से एक सड़क शिमला जाती है। पहले यह मार्ग पैदल चलने वाले साहसिक लोगों के लिए बड़ा भारी आकर्षण था; लेकिन अब पक्की सड़क बन जाने से शिमला के फ़ैशनेबल सैलानी 'वीक-एंड' बिताने के लिए मोटर में बैठ कर सीधे मनाली आ सकते हैं। आस-पास का सौन्दर्य अब भी वही है, लेकिन चमत्कार नष्ट हो गया है।

और कुछ आगे से एक मार्ग मणिकर्ण भी जाता है। मणिकर्ण तीर्थ-स्थान है। यहाँ गर्म पानी के कई सोते हैं, जिन की उष्णता अलग-अलग है। कोई नहाने के लिए ठीक है, तो किसी में चावल उबाले जा सकते हैं।

व्यास नदी के किनारे-किनारे सुन्दर किन्तु कहीं-कहीं ख़तरनाक सड़क पर बढ़ते हुए हम लोग बारह बजे कुलू पहुँच गये।

*　　　　*　　　　*



कुलू उपत्यका का आरम्भ: मनाली

[पृ० १४४ के सम्मुख

कुलू प्राचीन हिन्दू-सभ्यता का गहवारा है। यहाँ प्रत्येक कस्बे और ग्राम के अपने-अपने देवता हैं, जो अपने-अपने मन्दिरों में बैठे हुए ही लोगों की पूजा पाते हैं और साल में एक बार अपने-अपने रथों में बैठ कर कुलू के रघुनाथ मन्दिर में प्रतिष्ठित राम की उपासना के लिए जाते हैं। सैकड़ों देवी-देवताओं और उन के मन्दिरों के कारण, और इस विराट् देव-सम्मेलन के कारण ही, कुलू प्रदेश का नाम देवताओं का अंचल (वैली आफ़ द गाड्स) पड़ा है। ये सब असंख्य देवी-देवता और ऋषि-मुनि यहाँ के आदिम निवासियों द्वारा पूजे जाते थे। वे आर्य थे या नहीं, इस बात का झगड़ा यहाँ नहीं है, लेकिन आर्य-धर्म के जिस रूप को हिन्दू धर्म के नाम से हमने जाना, वह यहाँ विजेता के रूप में आया। जब बाहर से आये हुए विजेता यहाँ शासक बन कर बस गये, तब जिस तरह वे यहाँ के मांडलिक राजाओं या सरदारों से अपना आधिपत्य मनवाने लगे, उसी तरह यहाँ के देवी-देवताओं से भी अपने अधिदेवता राम की अधीनता स्वीकार कराने लगे। यहाँ पर दशहरे के दिन विजयी राम का जो उत्सव होता है, जिस में आसपास के सब देवी-देवता रथों में बिठा कर लाये जाते हैं, उस में मुझे इसी प्राचीन विजय का सांकेतिक रूप दीखता है। जिस तरह मुहावरे में कहते हैं 'देवता कूच कर गये', उसी तरह देवताओं का अधीनत्व शायद उन देवताओं को पूजनेवाली जाति के अधीनत्व का संकेत माना गया। रामायण में लंका-विजय के बाद देवताओं का अपने-अपने विमानों में बैठ कर 'सलामी देने' आना भी यही भाव व्यक्त करता है। खैर, कुछ भी हो, इस विराट् उत्सव में, ऐसा सुनने में आता है, हज़ार-हज़ार तक देवता शामिल होते हैं।

उस प्रथम विजयी जाति के आक्रमण के बाद शायद और आक्रमण इधर नहीं हुए, क्योंकि यहाँ पर हिन्दू-धर्म का जो रूप मिलता है, वह अन्यत्र नहीं। विजेताओं की राम-पूजा और विजितों की देव-पूजा में एक समन्वय हो गया, वही अब तक कायम है। कुलू-प्रान्त में व्यास-कुंड, व्यास-मुनि, वसिष्ठ आदि ऋषि-मुनियों के स्थान हैं, पांडवों के मन्दिर हैं, भीम-

पत्नी हिडिम्बा 'देवी' भी पूजा पाती हैं; और सब से बढ़ कर महत्वपूर्ण बात यह कि वहाँ पर 'मनु रिखि' या मनु भगवान् का भी एक मन्दिर है। शायद भारत में यह एकमात्र स्थान है, जहाँ मानवता का यह स्वयम्भू आदिम प्रवर्तक मन्दिर में प्रतिष्ठित हो और पूजा पाता हो।



कुलू का एक उत्सव-नृत्य

दशहरे के अवसर पर यहाँ बड़ा भारी मेला भी लगता है। साल भर का व्यापार प्रायः इस एक दिन में ही हो जाता है—बाहर से आये हुए यात्रियों के लिए बनी हुई देशी-अंगरेजी दूकानों और कुछ होटलों या पंसारी-हाट की बात अलग है—इस लिए यहाँ पर ग्राहक और विक्रेता दोनों ही बड़ी उमंगें लेकर आते हैं। रंग-बिरंगे कम्बल, पट्टू-पट्टियाँ, पश्मीना, 'चम्म'[3] और अन्य प्रकार की खालें—रीछ की, मृग की, बाघ की, कभी-

३ गर्भवती भेड़ का पेट चीर कर निकाले गये बच्चे की खाल। बहुत मुलायम और गर्म होने के कारण शौकीन लोगों में इस की बहुत मांग रहती है।

कभी बर्फ़ के बाघ (स्नो-लेपर्ड) की––तरह-तरह के जूते, मोजे, सिली-सिलाई पोशाकें, टोपियाँ, बाँसुरी, बर्त्तन, पीतल और चाँदी के आभूषण, लकड़ी, हड्डी और सींग की कंघियाँ, देशी और विदेशी काँच, बिल्लौर और पत्थर के मनकों के हार––न जाने क्या-क्या चीजें वहाँ आती हैं और देखते-देखते बिक जाती हैं––दिन-भर में हजारों की सम्पत्ति हाथ बदल लेता है.... तमाशे होते हैं, नाच होते हैं, गाना बजाना होता है, जगमग रोशनी होती है।

और न जाने कितनी लुगड़ी (देशी शराब) पी डाली जाती है!

* * *

उस दिन कुल्लू में दो घंटे ठहरे। भोजन किया और फिर लारी में बैठ कर आगे बढ़े। मनाली देवताओं के अंचल का ऊपरी छोर––कुल्लू से २३ मील है। अध-बीच में कटराई की बस्ती है। यहाँ एक मिडल स्कूल है, जिस के हेडमास्टर साहब एक पंजाबी आर्य-समाजी थे। मोटर स्कूल के सामने ही खड़ी हुई थी, उतरने पर अकस्मात् उन से सामना हो गया और बात-बात में परिचय भी हुआ। उन्होंने स्कूल दिखा दिया। जिस तरह विपरीत परिस्थितियों और कठिनाइयों का सामना करते हुए उन्होंने स्कूल स्थापित किया और चलाया था, उस की बात सुन कर मन में श्रद्धा हुई; लेकिन जो पढ़ाई हो रही थी, उस की ज़रूरत का कायल मैं नहीं हो सका। बानगी देखिए:––

मास्टर साहब: "लड़को, पाँच उँगलियों को पंजा कहते हैं।"

लड़के: (एक साथ चिल्ला कर) "पंजा!"

मास्टर: "क्या कहते हैं?"

लड़के: (उसी प्रकार) "पंजा।"

मास्टर: (वही प्रश्न)।

लड़के: (वही उत्तर)।

ऐसे बीस बार। फिर एक लड़के से अलग प्रश्नोत्तर––

मास्टर: "तुम्हारे हाथ में कितनी उँगलियाँ हैं?"

लड़का: "पाँच।"

मास्टर : "क्या कहते हैं ?"

लड़का : "पंजा ?"

फिर सारी क्लास से :

मास्टर : "क्या कहते हैं ?"

सब लड़के : "पंजा !"

फिर दूसरे लड़के से यही क्रम। इस प्रकार पूरी कक्षा से। बस, पीरियड समाप्त, छुट्टी।

* * *

ब्यास नदी के बहाव के कारण जो भूमि कट कर समतल हो गयी है, उस में कट्राई सब से सुन्दर स्थान है। यहाँ घाटी खूब चौड़ी हो गयी है और किसी तरफ भी कुछ ऊपर चढ़ कर देखने से फैले हुए धान के खेतों और बीच-बीच में सेब, नाशपाती, खुबानी, आड़ू, आलूचे और गिलास के पेड़ों का बहुत ही मनोरम दृश्य दीख पड़ता है। 'ट्राउट' मछली के शिकार के लिए भी यह स्थान बहुत अच्छा है, इस लिए यहाँ से कुछ मील ऊपर तक ब्यास के किनारे-किनारे तम्बू डाले कई एक अंगरेज लोग नदी-कूल पर बैठ कर ऊंघा करते हैं और सब्र का सबक पढ़ा करते हैं, या कभी सोचा करते हैं कि वापस लौट कर जब



नगर से कट्राई का दृश्य

वे लोगों को शिकार की बात सुनायेंगे, तब कितनी बड़ी मछली पकड़ लेने में अपनी सफलता पर उनको विश्वास दिला सकेंगे। जानी हुई बात है कि ट्राउट के शिकारियों में सौ में से निन्नानवे नौ इंच से बड़ी मछली नहीं पकड़ते—और सौवाँ झूठ कहता है!

* * *

कट्राईं से दो मील चढ़ाई चढ कर नगर जा सकते हैं। नगर में कुलू राज्य की पुरानी राजधानी है। पुराने राजाओं के महल इत्यादि अनेक दर्शनीय इमारतें और कुछ प्राचीन मन्दिर भी हैं। महादेव का एक प्राचीन मन्दिर अपने सौन्दर्य के लिए खास तौर से दर्शनीय है। रूसी कलाकार रोयरिक द्वारा स्थापित हिमालयन रिसर्च इंस्टिट्यूट भी यहीं है। यह संस्था रोयरिक के भाई डाक्टर जार्ज रोयरिक की देख-रेख में हिमालय की भाषाओं, जातियों, लोक-साहित्य और वनस्पतियों के सम्बन्ध में अनुसन्धान करती है। स्वयं रोयरिक भी अक्सर यहीं रहते हैं, यद्यपि जब-तब वे दूर देशों की सैर को भी चल देते हैं।[४]

कट्राई से मनाली तक का पुराना रास्ता नगर और जगतसुख हो कर जाता था—कट्राईं में व्यास नदी पार की जाती थी और मनाली के नीचे फिर वापस पार हो जाते थे। लेकिन अब मोटर की सड़क दूसरे किनारे के साथ-साथ ही सीधी मनाली जाती है और नगर उस से अलग पड़ गया है। सुभीते के लिहाज़ से चाहे जैसा हो, सौन्दर्य-रक्षा के लिए यह बहुत अच्छा हुआ है। मनाली से नगर वाली कच्ची सड़क उस तरफ़ की सब से लम्बी सैर है। ऊँच-नीच भी बहुत अधिक नहीं है, और दृश्य तो हर-एक मोड़ पर ऐसा सुन्दर दीखता है कि कहा नहीं जा सकता। एक ओर उठते हुए चीड़ के जंगल की गलियाँ, दूसरी ओर खुली हुई तराई में लहराते हुए धन-खेतों के मखमली आँगन—न जाने किस रहस्यमय की नीरव पद-चाप हर समय उस में एक हिलोर-सी उठाती रहती है! इसी सड़क पर जगतसुख गाँव में भी कई एक दर्शनीय प्राचीन

---

४ निकोलस रोयरिक दिवंगत हो गये हैं।

मन्दिर हैं, जिनमें हिन्दू युग के कलाकारों की कारीगरी अभी तक ज्यों का त्यों बनी है।

कट्राई से चल कर मोटर कलाथ होती हुई मनाली जा पहुँची। कलाथ में गर्म पानी का एक कुंड है, जिसमें गन्धक और अन्य रसायन काफ़ी मात्रा में होते हैं। यूरोप में कहीं ऐसा कुंड होता, तो वहाँ स्नान के लिए स्थान और सफ़ाई का प्रबन्ध होता; लेकिन यहाँ पर आम तौर पर पहाड़ी औरतें अपने कपड़े धोती दीखती हैं—ऊनी कपड़ों के लिए ऐसी बढ़िया 'लांड्री' और कहाँ मिलती?



जगत सुख

*   *   *

मनाली या मुनाली ने यह नाम मुनाल नामक पक्षी से पाया, जो यहाँ बहुतायत से होता है। हिमालय का फ़ेज़ंट जाति का यह पक्षी अत्यन्त सुन्दर होता है। इस के सम्बन्ध में यहाँ के लोगों में कई किंवदन्तियाँ भी सुनने में आती हैं।

लेकिन समतल भूमि पर रहनेवाले लोग मनाली को वहाँ के सेवों के कारण ही जानते हैं। सेव और नाशपाती के लिए मनाली शायद संसार में सब से बढ़िया स्थान है। यहाँ के फलों के सम्बन्ध में कोई वैज्ञानिक अनुसन्धान नहीं होता, न उस ढंग का संगठित काम होता है, जैसा कि अमरीका के केलिफ़ोर्निया आदि फलप्रद इलाकों में; फिर भी यहाँ के सेव, यहाँ के बग्गूगोशे (एक विशेष प्रकार की रसीली नाशपाती) और यहाँ के गलिसा

('चेरी') अपना सानी नहीं रखते। सिर्फ़ मीठे को ही स्वाद गिनने वाले लोग कश्मीर के अमरी सेबों को पसन्द करते हैं; लेकिन कुलू के खट-मिट्ठे ख़स्ता सेब, जो मनाली में होते हैं, अपने विशेष स्वाद और ख़ुशबू से जो अपूर्व रस पैदा करते हैं, उस की तुलना किसी चीज़ से की जा सकती है, तो अनिर्वचनीय काव्य-रस से ही। अभी हाल में कुछ ध्यान अन्वेषण और प्रयोग की ओर भी जाने लगा है, और इस का एक परिणाम यह हुआ है कि जापानी परसिमन यहाँ पर पैदा होने लगा है। कहते हैं कि शीघ्र ही मनाली का 'जापानी फल' जापान को मात कर देगा।



जगत सुख : पट्टू के लिए ताना तैयार किया जा रहा है

मनाली की दो बस्तियाँ हैं। एक तो बाहर से आ कर बसे हुए लोगों द्वारा बनाये हुए बंगलों और बाज़ार वाली बस्ती, जो दाना कहलाती है; और दूसरी उस से क़रीब मील-भर ऊपर चल कर ख़ास मनाली गाँव की। मोटर दाना तक जाती है। दाना से सड़क फिर व्यास नदी पार कर के रोहतंग की जोत से हो कर लाहौल को चली जाती है। इसी मार्ग पर मनाली से दो मील की दूरी पर वसिष्ठ नाम का गाँव है, जहाँ गर्म पानी के कुंड हैं और वसिष्ठ-मन्दिर भी है। कहते हैं कि वसिष्ठ ऋषि यहीं तपस्या करते-करते पाषाण हो गये थे; पाषाण मूर्ति वहाँ पूजी भी जाती है। यहाँ के पानी में गन्धक की मात्रा काफ़ी है, और वह स्वास्थ्य के लिए बहुत अच्छा है।

रोहतंग की जोत पर ही व्यास-कुंड है। यहाँ से कुछ मील हट कर व्यास मुनि का स्थान है, जहाँ से व्यास नदी का उद्गम है। रोहतंग का मार्ग बहुत रमणीक है। व्यास नदी के वेग से किस तरह पहाड़-के-पहाड़ कट गये हैं, वह भी देखने की चीज़ है। कहीं-कहीं तो नदी एक आठ-दस फ़ुट चौड़ी दरार में चार-पाँच सौ फ़ुट नीचे जा कर अदृश्य हो गयी है, केवल स्वर सुन पड़ता है। इस का कारण यह है कि व्यास नदी बहुत तीव्र गति से नीचे उतरती है——अपने मार्ग के पहले पाँच मील में जितना नीचे उतर आती है, वह उतना अगले पचास मील में नहीं, और उस के बाद के पाँच सौ मील में नहीं। समुद्रतल से व्यास मुनि की ऊँचाई पन्द्रह हजार फ़ुट है, दाना की साढ़े छः हजार——यानी आठ मील में व्यास नदी आठ हज़ार फ़ुट उतर आती है। (सड़क से 'रोहतंग पास' दाना से तेरह मील है, नदी का मार्ग छोटा है।) रोहतंग की जोत के दूसरी पार कोकसर पड़ाव है। यहाँ जाते हुए बर्फ़ के सौन्दर्य का जो दृश्य दीखता है, मैंने दूसरा नहीं देखा। उस का न वर्णन हो सकता है, न चित्र खिंच सकता है। कुछ मीलों के दायरे का एक प्याला-सा बना हुआ है, जिस के सब ओर ऊँची-ऊँची हिमावृत चोटियाँ, उससे कुछ नीचे पहाड़ों के नंगे काले अंग, और प्याले के बीच में फिर बर्फ़ से छाया हुआ मैदान——मानों अभिमानी पर्वत सरदारों ने अपना शीश और कटि-प्रदेश तो ढक लिया



जगत सुखः
जुलाहा पट्टू बुन रहा है

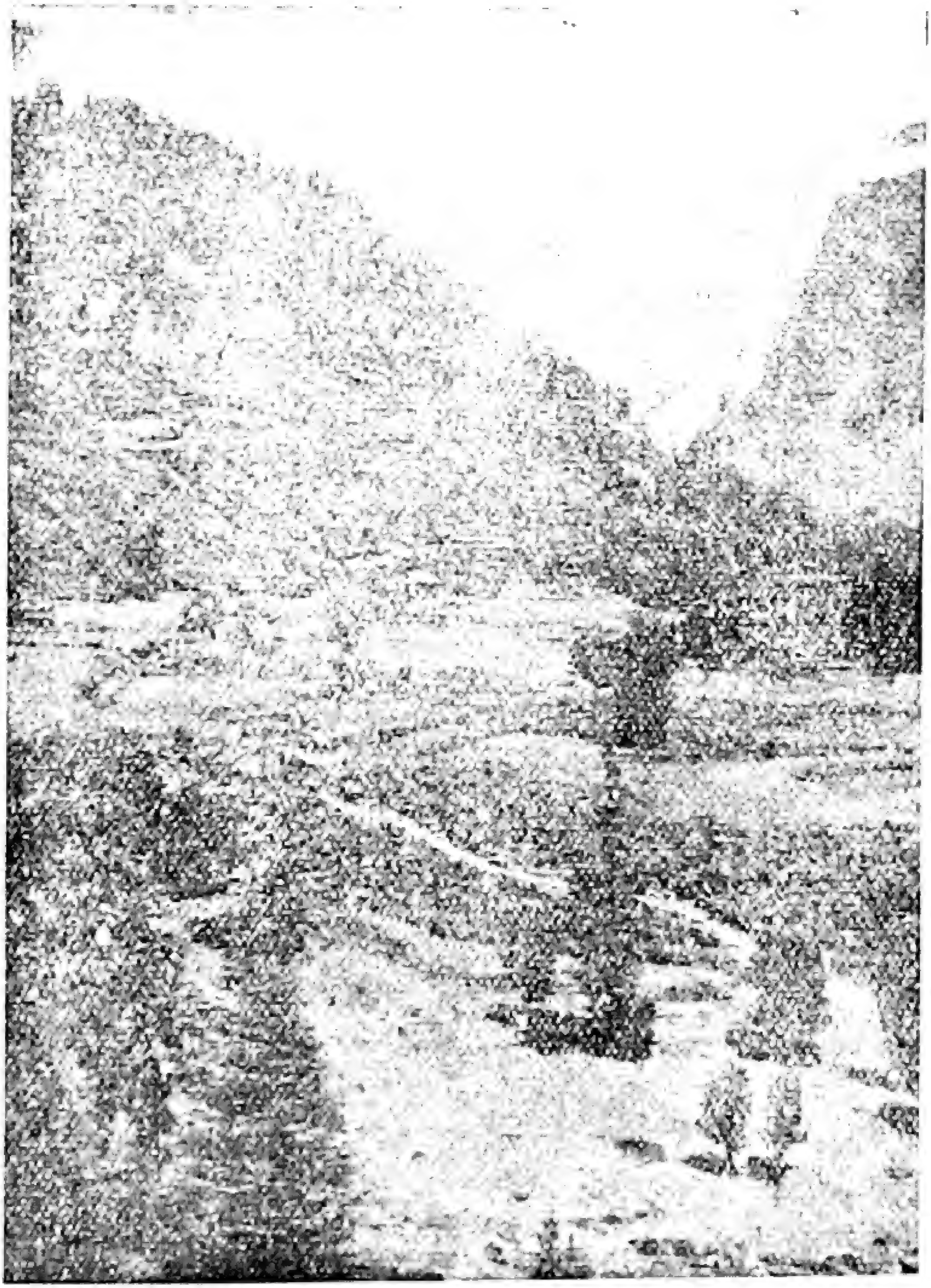
हैं; लेकिन छाती दर्प से खोल रखी है... इस स्थान से तीन नदियों का उदगम है, ऊपर से व्यास, मध्य से चन्द्रा और भागा, जो आगे चल कर मिल जाती हैं। लेकिन रोहतंग की यात्रा का और कुल्लू-प्रदेश के अपने दूसरे विचित्र अनुभवों का वर्णन अलग लेख मांगता है।

दाना के दूसरी ओर पहाड़ के ढलान पर चीड़ के जंगल में हिडिम्बा देवी का मन्दिर है। एक चीड़ वृक्ष के तने के आसपास बना हुआ यह लकड़ी का सत-मंजिला मन्दिर दर्शनीय है। इस के द्वारों पर जो नक्काशी का काम है, वह कई सौ बरस पुराना है। एक पट्टे पर लेख भी खुदा हुआ है। मन्दिर से मनाली की ओर जाते हुए मार्ग दो चट्टानों के बीच हो कर गुजरता है, जो अपने आकार के कारण 'देवी का चूल्हा' के नाम से प्रसिद्ध है। कहते हैं कि यहां हिडिम्बा देवी मनुष्य भून-भून कर अपना भोजन तैयार करती थीं। मनाली की बस्ती के ऊपरी छोर पर मनु-रिखि का मन्दिर है। यह छोटा है, विशेष सुन्दर भी नहीं है; लेकिन मनु का एकमात्र मन्दिर होने के कारण विशेष महत्त्व रखता है।



हिडिम्बा का चूल्हा

हमारी मोटर दाना पहुंची, तो मेरे परिचित बैनन बन्धु मुझे लेने आये थे। उन भाइयों के पिता कर्नल बैनन उस प्रदेश में आ कर बसनेवाले सब से पहले विदेशी सज्जन थे। उन्होंने यहां शादी की थी, और रहने लगे थे। मनाली में सेवों का पहला बाग भी उन्होंने लगाया था। अब उन के



मनाली गाँव :

[ऊपरी छोर पर मनुरिखि का मन्दिर है]

पुत्र भी पिता का आदर्श निबाह रहे हैं। दो भाई फौज में भी जा चुके हैं, और मेजर तथा कैप्टेन के पद पर हैं।

मैं अकेला था, इस लिए बैनन बन्धुओं ने मेरे लिए मनाली गाँव के सिरे पर ही एक छोटा मकान ठीक कर दिया था। यह छोटा-सा मकान मचान की तरह बना हुआ था, नीचे का अंश रहने के काबिल नहीं था और बेकार पड़ा रहता था, ऊपर का हिस्सा एक चौकोर कमरा था, जिसके चारों तरफ चौड़ा छज्जा बना हुआ था। कोने में पड़ी नसैनी से एक छिद्र द्वारा ढालू छत की आड़ में बनी हुई मियानी में जा सकते थे, जहाँ रसोई थी। एक पहाड़ी पत्थर कूटने वाला मुझे रसोइये के रूप में मिला—खानसामा रखने पर लकड़ी लाने, पानी भरने इत्यादि के लिए अलग-अलग आदमी रखने पड़ते थे—और बहुत शीघ्र मैं वहाँ जम गया। मैं वहाँ आया तो था स्वास्थ्य-लाभ करने, लेकिन सब से बड़ी आकांक्षा यह थी कि एकान्त में रह कर एक बड़ा-सा उपन्यास लिख डालूँगा। जेल में रहते हुए उस का ढाँचा तैयार हुआ था, और वह मैंने अंगरेज़ी में पूरा लिख भी डाला था; लेकिन जेल के चार वर्षों ने मुझे यह भी दिखा दिया था कि उसमें अभी लकड़पन बहुत है। एक बड़े केनवस पर मैंने एक विद्रोही के पूरे जीवन का चित्र खींचने की कोशिश की थी, और जहाँ तक चित्र का सम्बन्ध था, वह काफ़ी सच्चा उतरा था; पर जिस भूमि पर वह खींचा गया था—भारतीय समाज और संस्कृति—उस का ज्ञान मेरा अधूरा ही था, और इस लिए चित्र ठीक नहीं था। अब नये अनुभव के आधार पर परिवर्तन और परिष्कार कर के मैं उसे फिर हिन्दी में लिखना चाहता था। उपन्यास को मैं जीवन-दर्शन मानता हूँ, और इस दृष्टि से गम्भीर चीज़ लिखने के लिए एकान्त ज़रूरी था। तभी मैं परिचित 'सभ्य' लोगों की बस्ती से अलग मनाली में आ जमा था।

मनाली स्थिति के कारण ही नहीं, सौन्दर्य के कारण भी देवताओं के अंचल का सुनहला ऊपरी छोर है। दृष्टि-क्षेत्र में सीखचे-ही-सीखचे देखने की आदी मेरी आँखें इस विराट् सौन्दर्य को पीती जाती थीं और मानो

अपने पर विश्वास नहीं कर पाती थीं...सीखचों का संस्कार इतना गहरा पड़ गया था कि मैं बाहर बिखरी हुई सौन्दर्य-राशि को देख कर भी भीतर से पुरानी-पुरानी बन्दी-जीवन की स्मृतियाँ निकालता जाता था—जैसे शाही पोशाक में लिपट कर भी भिखमंगा अपनी फटी हुई और थिगरों से भूषित गुदड़ी को नहीं भूलता। लेकिन मनाली ने मानो उन स्मृतियों पर अपनी छाप डाल दी—वे अपने आप में कटु स्मृतियाँ मानों सुन्दरता के एक ढाँचे में ढल कर निकलने लगीं। पहले ही दिन मैंने पाया कि 'प्रिज़न डेज़ एंड अदर पोएम्स', नाम के एक आगमिष्यत् कविता-संग्रह का सूत्रपात हो गया है। और जब मैं महीने भर बाद लौटा, तब वह पूर्ण-सा हो चुका था।

लेकिन मुझे उपन्यास लिखना था। मैंने मकान के छज्जे पर मेज़-कुरसी डाल ली, पुराने लिखे और टाइप किये हुए कागज़, हाथ से घसीटे हुए नोट और ढेर-से फ़ुलस्केप कागज़ सामने रख लिये।

पर आँखें भटकने लगीं। कभी बाहर दूर भागते हुए बादलों पर और शान्त भाव से उन्हें देखते हुए गम्भीर चीड़ वृक्षों पर, कभी निकट की बाउड़ी पर पानी भरती हुई स्वस्थ, बेधड़क राजपूतनियों पर, कभी अपने ही मकान की बाहरी दीवार पर, जिस पर पिछले वर्ष का एक 'शिला-लेख' अभी तक बना ही हुआ था—

"—, —, एंड — स्पेंट सिक्स मेमोरेबल डेज़ एंड नाइट्स हियर, ११ टू १७ जुलाई १९३४"

—अमुक-अमुक व्यक्तियों ने छः स्मरणीय दिन और रातें यहाँ पर बितायीं, ११ से १७ जुलाई, १९३४।

'स्मरणीय'? यहाँ का एक-एक क्षण आत्मा पर अपनी एक अमिट छाप डालता हुआ चला जाता है....

अगले दिन प्रातः काल ही देवताओं के आँचल में बैठे हुए एक क्षुद्र मानव ने पाया कि वह भी देवों का समकक्षी हो गया है, स्रष्टा हो गया है: वह लिखने लगा...।

———

मौत की घाटी में

क्षुद्र मानव को कभी-कभी देवताओं का समकक्षी हो सकने का सौभाग्य प्राप्त है, लेकिन वह सौभाग्य अधिक देर तक बना नहीं रह सकता। सृजन के क्षण चिरस्थायी नहीं होते, वे आ कर उड़ जाते हैं। सम्भव है ईश्वर भी अपने रचना-क्षेत्र में ऐसे उत्कर्ष के अवसर पाता हो, उन्हीं में 'सृष्टि' करता हो और बाक़ी में केवल मात्र 'निर्माण'। तभी तो संसार में इतना ऊँच-नीच और असमानता है—जो वस्तु 'सृजन' की गयी है, 'इनस्पिरेशन' के क्षण में रची गयी है, प्रतिभा-प्रसूत है, वही सुन्दर और शुभ है, बाक़ी तो केवल 'बनायी' हुई चीजें हैं, जगह भरने के लिए!

'देवताओं के अंचल' में बैठ कर भी एक दिन के देवत्व के बाद मैंने पाया कि लिखना आगे चलता नहीं है। मैंने क़लम रख दी और शून्य दृष्टि से मकान की दीवार की ओर देखने लगा।

सिक्स मेमोरेबल डेज़ एंड नाइट्स—छः स्मरणीय दिन और रातें....'

दीवार पर पिछले वर्ष के किसी यात्री दल का लिखा हुआ यह लेख बिना कोई गहरी छाप डाले मेरे मन के पट पर नाचने लगा। मेरा दिन-भर बहुत अच्छा बीता था, लेकिन क्या दिन ही स्मरणीय था? मैं लिखता, तो लिखता कि इस चिर-स्मरणीय सौन्दर्य के बीच मैंने छः दिन बिताये। क्यों कि दिन क्या है? उन का अस्तित्व तो उन में भोगी हुई चीज़ों या अनुभूतियों के कारण ही है...

दिन भर लिखते-लिखते मन इतना थक गया था कि इस बेसिर-पैर के विचार को भी आगे नहीं बढ़ा सका। मैंने ओवरकोट पहना और ढलते सूर्य की ओर पीठ कर के पहाड़ की चोटी की ओर सैर के लिए बढ़ने लगा।

*　　　*　　　*

दिन भर बादल घिरे रहे थे, यद्यपि वर्षा नहीं हुई थी और बीच-बीच

में धूप झलक जाती थी। उस समय हल्के सफ़ेद बादलों से घिरी हुई मनाली ऐसी मोहनी थी मानों किसी आकाशवासी जौहरी ने धुनी हुई रूई में लपेट कर बढ़िया पन्ना रख दिया हो। लेकिन अब एक और भी विस्मयकारी दृश्य सामने आ रहा था—जिस ओर बादल ज़रा खुलते थे उसी ओर उनके अवगुण्ठन के बीच में से अछूती, 'अक्षत-यौवना' हिम-चोटियाँ दीख जाती थीं! तब यह मालूम हुआ कि आकाशवासी जौहरी ने रूई से लपेट देना ही पर्याप्त नहीं समझा, पन्ने की रक्षा के लिए उसके सब ओर विराट् हिमशृंग ला खड़े किये हैं—और जिस ओर वे नहीं हैं उस ओर व्यास नदी का प्रवाह है।



मनाली

दो राजपूत बच्चे

ख़ैर, मैं मनाली गाँव लाँघ कर मनु-रिखि के मन्दिर के पास से होता हुआ ऊपर चढ़ता गया। चढ़ते-चढ़ते एकाएक मुझे लगा कि चारों तरफ़ सन्नाटा छाया हुआ है, कहीं कोई आदमी नहीं है, पक्षियों का स्वर नहीं है, प्रायः सर्वत्र सुन पड़ने वाला झरने का कल-स्वर भी नहीं है। मैंने देखा कि साँझ बहुत घिर आयी है, और मैं गाँव से तीन-एक मील ऊपर निकल आया हूँ। मैं जल्दी-जल्दी लौट पड़ा।

कुल्लू के गाँवों में दीया प्रायः नहीं जलता। सन्ध्या होते-होते लोग डाँगरों की देख-रेख से निपट कर, भोजन-बासन उठा कर घर के भीतर आग के आसपास बैठ जाते हैं, और जब तक मन होता है, गप-शप करते हैं, फिर सो जाते हैं। प्रातःकाल का सूर्य स्त्रियों को गाँव की बाउड़ी पर कपड़े धोते, या चीड़ के वनों में लकड़ी बीनते-चुराते, और पुरुषों को खेती पर काम करते या ढोर चराते, पाता है।



रोहतङ्ग-पथ पर : दो पेड़



रोहतङ्ग-पथ पर : लदू बकरियाँ



रोहतङ्ग-पथ पर लेखक

[पृ० १६० के सम्मुख

इसी लिए मैं जब गाँव के पास लौट कर आया था तब गाँव अंधेरे में पड़ा था। किसी घर के भीतर से कभी हँसी की उड़ती-सी ध्वनि आ कर सन्नाटे को गहरा कर दे तो कर दे, और किसी तरह की हलचल नहीं थी; न ऐसा कोई प्रकाश ही था कि हलचल देखी जा सके। हाँ, पत्थर पर भारी चाप से पड़ते हुए मेरे ही बूटों का स्वर अवश्य उस शान्ति को एक भद्दे ढंग से भंग कर रहा था।

मेरे गाँव में प्रवेश करते ही एक-एक कर के घरों के दरवाजे खुलने लगे और दो-दो तीन-तीन आदमी प्रत्येक में से बाहर निकल कर खड़े हो गये। थोड़ी देर में मैंने पाया कि गाँव के प्रायः तमाम पुरुष निवासी इस प्रकार अपने-अपने झोंपड़े या घर की देहरी पर खड़े हैं और स्थिर दृष्टि से मेरी ओर देख रहे हैं। इस ढंग का कुतूहल वैसे भी किसी को नहीं सुहाता, फिर उस समय मुझे लगा कि उसमें कुतूहल से अधिक तीखा भी कुछ है—रोष या द्वेष या घृणा... मैं सिर झुकाये तीव्र-गति से बढ़ता चला, मुझे समझ नहीं आया कि बात क्या है...



मनाली
कुछ लाहुली बच्चे

एकाएक सारा गाँव ही समवेत स्वर से एक सीत्कार ध्वनि कर उठा। वैसी ध्वनि पाश्चात्य देशों में तीव्र घृणा को व्यक्त करने के लिए की जाती है, यह मैं जानता था; पर यहाँ भी क्या उस का वही उद्देश्य हो सकता है? आशंका से मेरा हृदय भर उठा—यदि यह घृणा है तो क्यों? छः सौ आदमियों की उस भेदक स्वर में भरी हुई घृणा की कल्पना से ही सिहर कर मैं धड़कते हुए हृदय से किसी न किसी तरह घर पहुँचा और भीतर घुस कर किवाड़ बन्द कर के बैठ गया।

मैंने सुना कि गाँव भर के किवाड़ बन्द हो गये हैं। बत्ती नीची कर के चारपाई पर लेट कर मैं सोचने लगा कि इस घटना का कारण क्या हो सकता है?

घृणा? लेकिन मैंने उन्हें घृणा के लिए कोई कारण तो नहीं दिया।

डर? मैं विशेष खतरनाक भी नहीं दीखता, और दिन भर जिस निरुपद्रव ढंग से बैठ कर लिखता रहा हूँ, उस से तो उन्हें बिल्कुल आश्वस्त हो जाना चाहिए कि इस लेखक-जन्तु में हिंसा बिल्कुल नहीं है...

तब सन्देह?

मुझे कुछ ही समय पहले की लाहौर की एक बात याद आयी। लाहौर में जब शहीदगंज आन्दोलन के सिलसिले में 'कर्फ्यू आंर्डर' जारी हुआ और सायंकाल सात बजे के बाद लोगों का घर से निकलना मना हो गया, तब मुसलमानों ने एक नयी प्रथा चलायी। नित्य सात बजे वे 'इस्लाम पर आयी हुई विपत्ति का निवारण करने के लिए' अपने-अपने घरों की छत पर चढ़ कर आकाश की ओर एक लम्बी पुकार भेजते थे... मुहल्ले के मुहल्ले का एक साथ आहत की तरह कराह उठना एक अजीब चीज थी—अन्धकार में वह दर्द-भरा स्वर खाहमखाह मन में किसी अनिष्ट की भावना पैदा कर देता था—सचमुच ऐसा जान पड़ने लगता था कि किसी घनी छाया से वातावरण गहरा हो गया है, रोमांच हो आता था...

मुझे यह भी याद आया कि असभ्य आदिम जातियों में भी अनिष्ट निवारण के लिए—या भूत-प्रेतों का प्रकोप हटाने के लिए—सीत्कार ध्वनि या कराहने का सा स्वर पैदा किया जाता था (अब भी होता है)। कुछ ही दिन पहले फ्रेज़र की 'गोल्डन बो' में मैंने आदिम जातियों की प्रथाओं का वर्णन पढ़ा था, वह अभी मेरे दिमाग में भरा हुआ था और मैं हर-एक बात का कारण किसी आदिम विश्वास या प्रथा में खोजा करता था।

तो, सन्देह। शायद मेरे दिन भर चुप-चाप लिखते रहने से और शाम को काला ओवरकोट पहन कर घूमने से उन्हें लगा हो कि मैं

जादूगर हूँ, या ऐसा ही कुछ...लेकिन मनाली के लोग तो सभ्य हैं, वीर राजपूत हैं...

ऐसी-ऐसी बातें सोचते-सोचते, विमर्श करते मैं सो गया।

रात में मेरे घर पर पत्थर बरसाये गये। पहले मैंने समझा कि ओले पड़ रहे हैं; लेकिन बाहर आ कर देखा कि आकाश स्वच्छ है, और तभी एक और बौछार हुई।

मैं फिर लेट गया। एक हल्की-सी जिज्ञासा मन में उठी, क्या यह घर भुतहा है? भूत मैंने कभी देखे नहीं, देखने की उत्कंठा ही लिये रह गया हूँ।

और कोई घटना नहीं हुई। मैं सो गया।

*　　　*　　　*

दूसरे दिन मैंने श्रीयुत बैनन से सारी बातें कहीं। वे मुस्करा दिये। फिर उन्होंने बताया कि पिछले साल जो लोग उस घर में आ कर ठहरे थे उन्होंने गाँव की स्त्रियों से कुछ छेड़-छाड़ की थी। मनाली के लोग बड़े अभिमानी हैं, ऐसी बात नहीं सह सकते। उन्होंने पत्थर बरसा कर उन लोगों को भगा दिया था; पीछे थाने में रिपोर्ट भी हुई थी और थानेदार ने गाँव वालों को धमकाया भी था जिस से वे अधिक नाराज़ हो गये। अब वे शायद उस घर में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति पर सन्देह करने लगे हैं...

उन्होंने गाँव के मुखिया को बुला कर मेरा परिचय करा दिया, और मेरी ओर से आश्वासन भी दिया। उस के बाद मैं मुखिया के साथ जा कर गाँव के कुछ प्रमुख व्यक्तियों से मिला। जब वे मेरे उस गाँव के घर में रहने का, अकेले आने का, और दूसरे यात्रियों की तरह दुपहर में ही न घूमने का कारण पूछ कर सन्तुष्ट हो गये, तब मैं सब को नमस्कार कर के लौट आया। थोड़ी देर बाद जब गाँव का एक लड़का छोटी-सी टोकरी में एक लौकी, कुछ करेले और थोड़ा-सा शहद देने आया, तब मैंने जान लिया कि गाँव वाले प्रसन्न हो गये हैं। यह मैत्री-भाव फिर बराबर

बना रहा। लेकिन शाम का घूमना मैंने छोड़ दिया। कभी लिखने से बहुत ऊब कर जाता भी, तो गाँव की ओर कदापि न जाता।

*　　　*　　　*

तीन-एक दिन बाद की बात है। मैं घर के बरामदे में—बनावट के ढंग से तो उसे 'मचान' कहना ही अधिक उचित होगा—बैठा पत्र लिख रहा था। एक अजनबी पहाड़ी आदमी आ कर मेरे पास खड़ा हो गया। मैंने शक्ल से पहचाना कि मनाली का नहीं है—वहाँ के प्रायः सभी आदमियों को मैं पहचान गया था।

मैंने उसे बैठने को कुर्सी देते हुए बात-चीत आरम्भ की। उसने कहा कि मुझे यहाँ सब्ज़ी-तरकारी न मिलती हो तो वह अपने गाँव से ला सकता है। उस के यहाँ कद्दू, करेले, बैंगन आदि होते हैं। 'अच्छी बात है, दे जाया करो', कह कर मैं अपने काम की ओर मुड़ा। तभी उस ने मुझ से एक प्रश्न पूछा, जिसे मैं दुहरा नहीं सकूँगा, लेकिन जिस का अभिप्राय यह था कि अगर मैं कोई वैसी वासनाएँ ले कर आया हूँ तो उन की पूर्त्ति का सामान वह पेश कर सकता है।

मैं स्तब्ध हो कर ताकता रह गया। फिर एकाएक ग्लानि का तीव्र झोंका आया, फिर क्रोध—मन हुआ कि इस नीच आदमी को मचान से नीचे धकेल दूँ। लेकिन एक बात ने मुझे रोक दिया और मुझे गम्भीर हो कर सोचने को बाध्य किया। जो बात उस आदमी ने पूछी थी, वह उतने बेझिझक खुलेपन से कही गयी मैंने कभी नहीं सुनी थी। न सभ्यों में, न असभ्यों में, न शीलवान् लोगों में और न बदमाशों में। उस चर्चा के साथ हम लोगों के मन में इतना गहरा जुगुप्सा का भाव है कि हम लोग अधिक से अधिक बेशर्म हो कर भी उसे भावना-हीन हो कर नहीं कह सकते—यदि शर्मिन्दा हो कर नहीं तो ललकार से ही कहते हैं। उस आदमी में इतना साधारण भाव क्यों हुआ? क्या इस के लिए यह बात भी इतनी साधारण है?

मैंने उस के प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए बात बदल दी। धीरे-धीरे उसने मनाली के लोगों की चर्चा आरम्भ की—कहा कि वे लोग

अभिमानी, बदमाश, यात्रियों को कष्ट देने वाले हैं, और अगर मैं चाहूँगा तो वह आदमी उन्हें खबर लगने दिये बिना प्रबन्ध कर देगा। मैंने फिर टाल दिया, तब उसने बताया कि पिछले वर्ष तीन आदमी वहाँ आ कर टिके थे, उन्होंने किसी को बुलाया था। इस पर गाँव वाले बहुत नाराज़ हुए थे और उन्होंने घर पर पत्थर बरसाये थे। "बाबू जी, ये मनाली के राजपूत बड़े बदमाश हैं..."

मैंने किसी तरह उसे निकाला, और लौट कर अपने स्थान पर बैठ गया। लिखना सम्भव नहीं हुआ, मैंने एक लम्बी साँस ले कर कलम रख दी।

मेरी दृष्टि उठ कर फिर उस 'शिलालेख' की ओर गयी—'छः स्मरणीय दिन और रातें...'

एकाएक इस 'स्मरणीय' का अर्थ एक कड़वी हँसी के रूप में मेरे भीतर से फूट निकला!

* * *

उस घर में काम करना असम्भव हो गया। अपने लिखने में मैं जो तटस्थ भाव चाहता था, वह वहाँ प्राप्य नहीं रहा था—मानों पिछले वर्ष के कुछ दिनों में वहाँ जमा हुआ वातावरण एक तीव्र गन्ध बन कर मुझ में भर रहा था—वहाँ बैठ कर एक अजीब अकुलाहट-सी मन में होती थी और भाग जाने को जी होता था...लारेंस ने कहीं कहा है कि मानव की बू मानव को असह्य हो गयी है—इस कथन की सच्चाई का अनुभव वहाँ हर समय होता रहता था...

मैं वह मकान छोड़ कर मनाली से उतर कर नयी बस्ती दाना में आ गया—बैनन साहब ने अपने बँगले का आधा हिस्सा मुझे दे दिया। यहाँ पर उन के सेबों के बाग में उन की शिशु कन्या शकुन्तला की गम्भीर नीली आँखें और तीव्र हँसी देख कर मैं उस दर्द को भुलाने लगा जो मनाली वाले घर में मेरे भीतर जाग उठा था।

लेकिन एक घटना अभी और घटनी थी।

उन दिनों मेरी डाक काफ़ी थी—चिट्ठियाँ लिखने और पाने का

मुझे व्यसन था। पढ़ कर चिट्ठियाँ फाड़ डालता था, लेकिन कचरा फेंकने के लिए कोई स्थान न होने के कारण मैं उसे ओवरकोट की जेब में भर लेता था और जब सैर के लिए जाता था तब नदी में डाल देता था। पहाड़ों के अनेक रमणीय स्थानों पर दर्शकों द्वारा बिखराया हुआ कचरा—फटे कागज़, फलों के छिलके आदि—देख कर मेरे मन में जो भीषण अभिशाप जाग उठता है—उसी की याद के कारण मुझे कभी साहस नहीं हुआ कि कागज़ फाड़ कर जहाँ-तहाँ फेंक दूँ कि टुकड़े हवा से उड़-उड़ कर दृश्य को बिगाड़ा करें।

तो एक दिन साँझ को इसी प्रकार अपनी सफ़ाई यात्रा पर चल कर मैं दाना और मनाली के बीच वाले नदी के पुल पर खड़ा था। झुटपुटे में एक अलौकिक भीतरी चमक से जगमग नदी के तीव्र बहते हुए फेनिल जल को देखता हुआ मैं जेब में से एक-एक मुट्ठी कागज़ निकाल कर छोड़ता जाता था। हवा के हल्के झोंके से जब वे टुकड़े काँपते हुए धीरे-धीरे नीचे उतर जाते थे, और फिर पानी को छूते ही एकाएक तीव्र गति से प्रवाह के साथ आगे उछल पड़ते थे, तब मेरा हृदय भी उल्लास से उछल पड़ता था... इसी तरह कहीं इस विश्व के पीछे छिपी हुई भी कोई रहस्यमय अदृश्य नदी होगी; मानव जीवन जब फटे हुए कागज़ के पुर्जे की तरह निराधार हो कर अपने को उस में उत्सर्ग करता होगा, तब उस के स्पर्श से एकाएक नयी चेतना पा कर आगे चल पड़ता होगा, अस्तित्व के धुँधलके में किसी सुदूर अगाध विस्तार में लीन होने के लिए...कुछ ऐसी ही अस्पष्ट भावना नित्य मेरे मन में उस समय उभर आती थी... पुल पर बिताये हुए उस अल्प समय के बाद मैं वैसा ही लौटता था जैसा कोई धर्मवान् व्यक्ति प्रार्थना कर के लौटता होगा...

उस दिन देर कुछ अधिक हो गयी थी, कागज़ के पुर्जे नदी को छूते हुए नहीं दीखते थे, पर नदी का प्रवाह साफ़ दीखता था। पहाड़ी जीवन के प्रति एक कोमल भाव मेरे मन में भर रहा था।

पुल पर बूटों की चाप से मैं चौंका। मैंने देखा, एक एंग्लो-इंडियन

सैलानी, जिसे मैं दाना में दो-तीन बार देख चुका था, बढ़ा जा रहा था। मुझे देख कर वह ठिठका, फिर एकाएक अंग्रेज़ी में बोला, "यहाँ किसी की ताक में खड़े हो क्या?"

बात जितनी साफ़ थी, उस का व्यंग्य इशारा उस से भी साफ़ था। मैंने फटकार कर उत्तर दिया, "शट अप!"

वह मुस्कराता हुआ ही आगे चला गया। मैं उस पक्षी की तरह जिस पर ऊँची उड़ान में एकाएक बिजली गिर पड़ी हो, आहत मन ले कर लौट आया।

* * *

'देवताओं के अंचल' में रहते हुए भी मैंने देखा कि कहीं किसी तरफ़ घूमने को स्थान नहीं रह गया है। तब मैंने एकदम लिखना छोड़ कर इस समस्या का सामना किया जो शिशिर ऋतु के कोहरे की तरह न जाने कहाँ से आ कर सब ओर छा गयी थी। यह देवताओं का अंचल क्यों आज अपना विस्तार भूल कर अपने एक कोने में पड़ी हुई 'मौत की घाटी'[1] का नाम अपना रहा है?

मैंने गाँव-गाँव घूम कर लोगों को देखना, उन के बारे में जानकारी प्राप्त करना आरम्भ किया। और मैंने देखा 'कि देवताओं का अंचल' सच-मुच आज मौत की घाटी हुआ जा रहा है। मौत वहाँ के कोने-कोने में घुसी जा रही है।

मैंने यह भी देखा कि इस का उत्तरदायित्व देवताओं पर नहीं, मानवों पर है, और उन मानवों पर जो अपनी सभ्यता के मद में चूर रहते हैं। हम समतल भूमि के रहने वाले ही अपने पतन की सड़ाँध वहाँ पहाड़ों में ले गये हैं। अपनी भद्दी छाप से ही हम ने पहाड़ों का सौन्दर्य विकृत कर दिया है, यहाँ तक कि आज भारत के पहाड़ी इलाक़ों में शायद ही कोई ऐसा स्थल बचा है जो दूषित नहीं हो गया है, जिसे दर्पोद्धत, बेवकूफ़

---

१. 'रोहतंग' का अर्थ है मौत की घाटी, मनाली से उत्तर-पूर्व लाहुल के मार्ग में रोहतंग की जोत अथवा घाटी आती है।

सभ्य मानव ने यह कह कर कि "तुम सुन्दर हो ? तो लो, मैं अपने कलंक से तुम्हें भी काला कर सकता हूँ !" भ्रष्ट नहीं कर दिया है। यदि पहाड़ों में कोई स्थल ऐसे बचे हैं जिनमें सभ्य मानव की यह काली करतूत डायन-सी मुँह बाये सामने नहीं आती, तो वे वही स्थल हैं जहाँ पुराने सौन्दर्य का कोई चिन्ह ही नहीं बचा, जिसे हमने अपने जैसा ही बना लिया है—सभ्य और सड़ा हुआ। हमारी करतूत हमें स्पष्ट वहाँ दीखती है जहाँ अभी स्वाभाविकता मरी नहीं है, जहाँ हम अपनी 'देन' का और प्राकृतिक अवस्था का विपर्यय एक स्थान पर देख सकते हैं—जिस का सर्वोत्तम उदाहरण कुलू का अंचल है। वह भी अब सभ्यता की सैरगाह बन गयी है, अतः कुछ एक वर्षों में वहाँ भी देखने को कुछ नहीं रहेगा—सिवाय अपने बेवक़ूफ चेहरे के बेहूदा प्रतिबिम्ब के। अंग्रेज़ी के एक कवि ने कहा है, 'जब मैं झील के स्वच्छ पानी में झाँक कर वहाँ के छोटे-छोटे भागते हुए जानवर और रंग-बिरंगी घास-फूस नहीं देखता, तब मैं एक मूर्ख के चेहरे का प्रतिबिम्ब देखता हूँ . . .'

यह कहना कठिन है कि इस अवस्था की आलोचना करने का कुछ अच्छा परिणाम होगा। हो सकता है कि कुलू के सौन्दर्य की चर्चा सुन कर, और यह जान कर कि उसे बिगाड़ सकना सम्भव है, बहुत से 'सभ्य' लोग उस सम्भावना को मिटाने की बजाय उस से लाभ उठाने दौड़ें। टालस्टॉय ने एक कहानी में बताया है कि एक साधु जब किसी शहर से लौट कर वहाँ होने वाले पतन का रोमांचकारी चित्र खींच कर अपने साथियों को साधना का महत्व बताने लगा, तब सारी साधु-मंडली अपना-अपना डोरिया-डंडा संभाल कर शहर की ओर ही दौड़ पड़ी !

पहाड़ों पर हम सभ्य लोगों की कृपा से जो कुछ हो रहा है, उस की माँग है कि हम परिस्थिति की जाँच करें—केवल पार्वतीय प्रदेशों की नहीं, अपनी परिस्थिति की जाँच करें। सैर के लिए पर्वतों में गया हुआ सभ्य सामाजिक मानव अपना अधःपतन और गन्दगी वहाँ भी बिखेर आया है। एक विशेष प्रकार के कीड़े की तरह, जो पेड़ के पत्ते पर उस की हरियावल खाता हुआ बढ़ता चलता है और इस प्रकार अपने पीछे पत्ते पर एक सूनी लकीर

छोड़ जाता है, हम लोगों ने भी पहाड़ों की पुण्य-भूमि पर पतन और रोग और मृत्यु की एक गहरी रेखा खींच दी है।

समतल भूमि के लोग श्रेष्ठता के घमंड से भर कर कहते हैं कि पहाड़ों में क्षयी और मैथुनज रोगों के होने का कारण पहाड़ी लोगों का गन्दा जीवन और नीति-भ्रष्ट आचार है। यह अपने पाप को छिपाने का प्रपंच है। वास्तव में ये रोग समतल भूमि से वहाँ गये हैं। पहाड़ों में इन रोगों का नाम-निशान न होने के कारण ही वहाँ के लोग इन के प्रति निरापद (इम्यून) नहीं थे। कोई भी संक्रामक रोग जब बहुत देर तक किसी प्रदेश पर छाया रहता है, तब उस का विष ही अपना विरोधी तत्व पैदा कर देता है और वहाँ के वासी उस विष के प्रति निरापद हो जाते हैं। यह एक वैज्ञानिक सत्य है। अफ्रीका के हब्शियों में भी क्षय रोग नहीं था; जब गोरे लोग उस प्रदेश को क्षय रोगियों के लिए लाभप्रद समझ कर वहाँ गये तब हब्शियों में क्षय का जीवाणु इतनी तीव्र गति से फैला कि आतंक छा गया। एच० जी० वेल्स ने अपनी एक कहानी में बताया है कि भविष्यत् रोग मुक्त समाज में आज का एक प्राणी जा घुसता है जो देखने में बिल्कुल स्वस्थ है, लेकिन उस के पहुँचते ही सारे देश में ज़ुकाम फैल जाता है—क्योंकि ज़ुकाम का जीवाणु उस देश में न होने से उस के प्रति निरापद होने की क्षमता भी नहीं थी!

*   *   *

रही वहाँ के आचार की बात। निस्सन्देह आचार की दृष्टि से वे उस अवस्था में हैं जिस में हम आज से सदियों पहले रहे होंगे। लेकिन वह आचार आत्यन्तिक रूप से ग़लत ही है, ऐसी बात नहीं है। आचार कोई शाश्वत नियम नहीं है, वह स्वभावतया विकासशील है। और विकास का पहला सिद्धान्त है जाति की अस्तित्व-रक्षा—अर्थात् प्रकृति बिना मानव के जाने ही उसे उस दिशा में प्रेरित करती है जो उस का अस्तित्व कायम रखने के लिए सर्वोत्तम मार्ग है। हम आस्तिक हों चाहें नास्तिक, यह बात हमें माननी ही पड़ेगी। और जब यह माना जायगा तब किसी भी

अवस्था का पहला हेतु—उस का औचित्य प्रमाणित करने वाला हेतु—हमें उस अवस्था के भीतर ही खोजना पड़ेगा।

इस दृष्टि से पहाड़ियों का आचार उन के जीवन के सर्वथा अनुकूल है—यानी अनीतिमय नहीं है। कुलू के अंचल से और आगे हिमाचल के हृदय के निकट बसने वाले लाहुली लोगों का आचरण इसका उदाहरण है। उन लोगों में शादी की रसम बहुत सरल है और तलाक की रसम उससे भी सरल, नर-नारियों के मिलने-जुलने की खुली आज़ादी है, लेकिन उनका जीवन हमारे जीवन की अपेक्षा कहीं अधिक स्वच्छ और नियमित है। उनके पाँच-छः तलाकों में 'मजिस्ट्रेट' का काम करने के बाद मुझे यह कहने में ज़रा भी संकोच नहीं है कि अपने आचार-शास्त्र के भीतर लाहुली लोग जितने नीतिवान् हैं, हम लोग उस का दशमांश भी अपने नियमों के सम्बन्ध में नहीं हैं। यह मैं मानता हूँ कि हमारे नियमों की अस्वाभाविकता ही उस का कारण है, लेकिन अस्वाभाविकता की बात मान लेने पर पहाड़ी लोगों की आलोचना करने का हमारा मुंह नहीं रहता।

हम लोग ऐसी हरकतें करते हुए पहाड़ियों को शिक्षित बनाने का अहंकार जितनी जल्दी छोड़ दें उतना ही अच्छा। वास्तव में हम कर क्या रहे हैं, इस का एक उदाहरण मुझे दाना की बस्ती में भटकती हुई एक रोगिणी युवती में मिला। मैं उस का फोटो खींचना चाहता था, उस के लिए वह राज़ी नहीं हुई; लेकिन उस से अधिक कुछ के लिए वह अप्रस्तुत नहीं होगी, यह बात मुझ पर प्रकट करने में उस ने संकोच नहीं किया—उसी ढंग से जो उसे किसी पूर्ववर्ती अतिशय सभ्य-शिक्षित व्यक्ति ने पैसों की खनक के द्वारा सिखाया होगा!

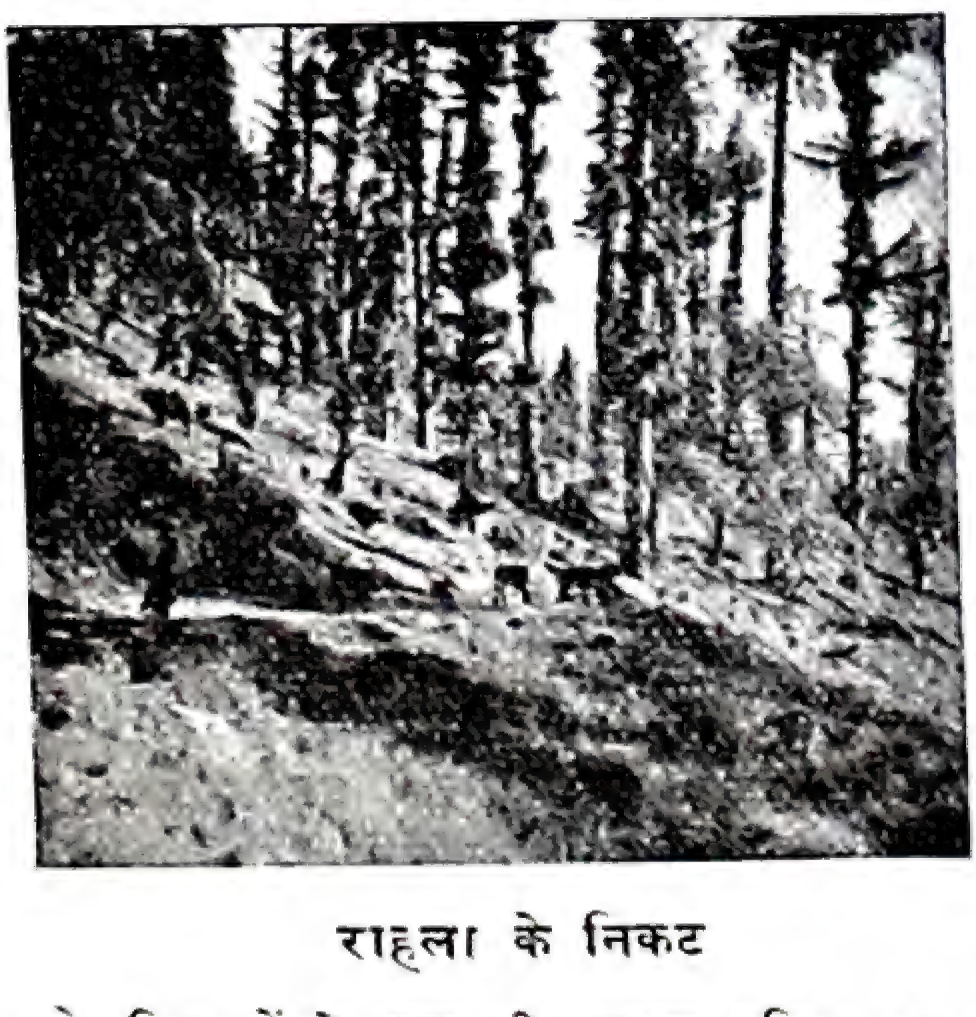
* * *

मुझे विशेष खेद नहीं है कि मैं यात्रा वर्णन से इतनी दूर भटक गया। पहले मुख्यतया रोहतंग की जोत का वर्णन करने का विचार था, लेकिन जब शीर्षक सूझा तब यही उचित जान पड़ा कि उसे सार्थक करने में रोहतंग की जोत भी कुछ करती है, उस के साथ उस का वर्णन भी होना चाहिए जो मनुष्य ने उसे सार्थक करने के लिए किया है!

ख़ैर। मनाली और उस के आस पास का प्रदेश देख कर, हिडिम्बा देवी के मन्दिर की चोटी तक चढ़ कर, वसिष्ठ-कुण्ड में स्नान कर के, जब ऐसा कोई स्थान नहीं बचा कि एक दौड़ में देख कर लौटा जा सके, तब तय हुआ कि रोहतंग की जोत देखी जाय। उस समय तक मेरे दो अतिथि आ गये थे, दो और मित्र भी पार्टी में शामिल हो गये। प्रबन्ध मेरे ज़िम्मे रहा।

हम लोगों ने दो टट्टू ठीक कर के सामान आगे चलता किया। राह में दो रात ठहरना पड़ सकता है—यद्यपि कोशिश की जायगी कि दूसरी रात मनाली पहुँच जाँय—यह सोच कर मैंने पाँच आदमियों के लिए पर्याप्त भोजन-सामग्री, कोको, डबलरोटी, कुछ सूखे फल आदि ले लिये। एक बोतल ब्रांडी की भी रख ली—बहुत ऊँचाई पर जाने से हृदय पर इतना दबाव पड़ता है कि कभी-कभी उसकी ज़रूरत पड़ जाती है। दो-तीन बार पहले ऊँची चढ़ाई के अनुभव से मैं यह जान गया था।

मनाली से रोहतंग तेरह-चौदह मील है। पहला पड़ाव कोठी पर (जहाँ डाक बँगला है और खाद्य-सामग्री भी मिलती है) या राहला पर होता है। राहला से ही रोहतंग की चढ़ाई आरम्भ होती है, अतः हमने वहीं पड़ाव करने का निश्चय किया। राहला मनाली से आठ मील है। हम लोग मज़े-मज़े चलते हुए शाम तक वहाँ पहुँच गये। दुपहर का भोजन कर के चले थे, शाम को दिन छिपते-छिपते राहला पहुँच गये। चलते समय तीन साथी हमारे साथ और मिल गये थे, जिन में से एक की खादन-शक्ति का अनुमान हमें नहीं था! जब राह



राहला के निकट

के सुन्दर जल-प्रपात, व्यास नदी की टक्कर से कटे हुए पहाड़, चीड़ और बाँज के जंगल, कहीं-कहीं छोटे बौद्ध-शैली के मन्दिर या 'ॐ मणि पद्मे हुँ' मन्त्र के शिलालेख देखते हुए, और साँझ की बारिश में भीगकर जाड़ा हटाने के लिए जोर-जोर से गाते हुए हम लोग राहला पहुँचे, और वहाँ के दो कमरे के पी० डब्ल्यू० डी० के बँगले में भूमि पर बैठने की जगह बना कर साथ लाये हुए आलू के परावँठों पर टूट पड़े, तभी मुझे उन नवागन्तुक की प्रतिभा का अनुमान हुआ--और अगले दिन के लिए फ़िक्र भी! पहाड़ों में ठंड के कारण भूख बहुत लगती है, और जो सामग्री हम लाये थे वह समाप्त-प्राय हो गयी थी।

हमारी पार्टी में दो जनों के पास कैमरे थे। हम ने तय किया कि सवेरे चार बजे उठ कर चल देंगे, ताकि सूर्योदय के समय रोहतंग पर पहुँच जाँय--हमारा अनुमान था कि उस समय का दृश्य फ़ोटो के लिए बहुत अच्छा होगा।

लेकिन सवेरे साढ़े तीन बजे बाहर निकले तो दाँत बजने लगे--इतनी कड़ाके की सर्दी थी! हम लोगों को और कोई उपाय तो सूझा नहीं, दो-दो आउंस ब्रांडी दोनों ने पी ली और चल दिये।

ब्रांडी ने पहले तो मदद की। कुछ गर्मी आयी, पहली चढ़ाई तो हम आसानी से चढ़ गये। लेकिन ११ हज़ार फुट की ऊँचाई पर जा कर उस का विपरीत असर हमें मालूम होने लगा। ब्रांडी की यह सिफ़त है कि थकान या गिरनी हालत में हो तो उत्तेजना देती है, लेकिन पहले पीने के बाद परिश्रम करने से बहुत सख़्त 'डिप्रेशन' होता है। यही 'डिप्रेशन' उस समय प्रकट हुआ, साथ ही ऊँचाई का असर भी हुआ, मतली होने लगी। दो रातों का उनींदा और दो समय का उपोषण--'अनर्था बहुली भवन्ति' वाली बात हुई।

१२ हज़ार की ऊँचाई पर बर्फ़ मिली। पहाड़ की एक गली या दरार में बर्फ़ का पुल बना हुआ था, उस के नीचे पानी बह रहा था। ऊपर से रास्ता था। यह पार करने के बाद तो चलना कठिन हो गया, कैमरे

का बोझ भी असह्य जान पड़ने लगा। किसी तरह हम लोग रुक-रुक कर चढ़ते गये।

भूख तो शायद नहीं लगी थी, लेकिन यह सोच कर कि इस कष्ट का कारण भोजन की कमी भी हो सकता है, मेरे साथी ने एक राह चलते लाहुली से खाने को कुछ माँगा। उस के पास केवल एक अधपकी मोटी रोटी, एक दो प्याज़ थे; उसने मुस्करा कर वे साथी को दे दिये। उससे और भी बुरी हालत हुई।

किसी तरह चोटी के निकट पहुँच ही गये। एक ओर चट्टान की आड़ में बर्फ़ बिछी हुई थी, हम वहीं रुक गये, और कैमरे के स्टैंड से बर्फ़ पर नाम खोदने लगे। मैं जब बड़े-बड़े अक्षरों में अपना नाम खोद चुका, तब स्टैंड अपने साथी को दे कर आगे बढ़ा। रोहतंग जोत की चोटी पर, राह से कुछ ही दूर पर हट कर व्यास कुंड है, जहाँ एक छोटे सोते को दीवार से घेर कर मन्दिर-सा बना लिया गया है। मैंने वहाँ पानी पिया, फिर धूप सेकने के लिए लेट गया—तब रोहतंग की प्रसिद्ध हवा चलने लगी थी। नित्य ठीक दोपहर को यह चलती है, और इतनी घातक है कि 'मौत की घाटी' नाम का मुख्य श्रेय उसी का है।

लेट कर मैं उठ नहीं सका। मेरा शरीर ऐंठ गया, चक्कर आने लगे, सब कुछ नीला-नीला दीखने लगा. . . न जाने कब तक मैं प्रतीक्षा में पड़ा रहा कि साथी आ जावें, लेकिन (यह पीछे मालूम हुआ) वह जोत पर मुझे न पाकर यह समझ बैठे कि मैं दूसरी पार उतर गया हूं, और मील भर नीचे चले गये—जहाँ से फिर वापस चढ़ाई चढ़ना उन के लिए सम्भव न हुआ !

क़रीब दो घंटे बीत गये। सूर्य की किरणें तिरछी पड़ने लगीं, और उनमें गर्मी का लोप होने लगा... मैं किसी तरह उठ कर बैठा, फिर खड़ा हुआ, लेकिन जब कैमरा लेने के लिए झुका तो फिर बैठ गया।

और तब मुझे एकाएक निश्चय हो गया कि मैं अब वहाँ से नहीं उठूंगा—वहीं रह जाऊँगा। मेरी पार्टी के बाक़ी लोग अब तक अवश्य जोत देख कर लौट गये होंगे—तीन बजे के बाद कौन वहाँ ठहरता है?

और अब उधर कुंड की ओर कोई नहीं आयेगा... कल––लेकिन एक रात यहाँ काट कर क्या मैं कल के लिए रह जाऊँगा?

आँखें और भी निकम्मी हो गयी थीं––सब कुछ नीला, काँपता हुआ-सा दीखता था। मैं आँखें बन्द कर के सोचने लगा––अगर मेरे साथी न आये, तब कल मुझे देख कर पहचानेगा भी कौन? मेरे साथी तलाश करेंगे––लेकिन कहाँ पर ?

मुझे याद आया कि बर्फ़ पर मैं अपना नाम लिख आया था––उन्होंने अवश्य देखा होगा... लेकिन उस से अनुमान तो नहीं होगा कि मैं कहाँ हूँ––उससे केवल यही जाना जा सकेगा कि 'मैं था'... और दो तीन दिन बाद सूर्य की धूप उस चिन्ह को भी मिटा देगी––बर्फ़ का वक्षस्थल फिर किसी और की लिखत के लिए उतना ही साफ़ स्वच्छ हो जायगा ! न जाने क्यों, मुझे यही बात एक भावी दुर्घटना-सी जान पड़ने लगी कि मेरा नाम वहाँ से मिट जायगा!

मुझे याद आया कि जब लाहौर में अपनी गैर-क़ानूनी कारंवाइयों के कारण मुझे एक दिन सहसा घर से गायब होना पड़ा था, तब पुलिस से बच कर निकल जाने, मित्रों को सूचना देने, आग का प्रबन्ध करने के बाद जब मैं स्टेशन पहुँच कर रेलगाड़ी में बैठ गया और फ़ुरसत से सोचने लगा, तब पहला विचार जो मेरे मन में आया वह यह था कि मेरे नये नये छपाये हुए विज़िटिंग कार्ड अब बेकार हो जायेंगे––क्योंकि अब अपने असली नाम का तो मैं उपयोग ही नहीं कर सकूंगा।

चार बजे एकाएक सारा दृश्य बदल गया। मैंने अर्ध-चेतना की अवस्था में पास कहीं गाने की आवाज़ सुनी––किसी तरह उठा, पुकारने की व्यर्थ कोशिश करता हुआ लड़खड़ाया, लेकिन फिर बैठते-बैठते मैंने देखा कि नवागन्तुक ने मुझे देख लिया है। मेरे सौभाग्य से वे लाहुली के सिविल सर्जन निकले जो नीचे लौट रहे थे, और उन के उपचार से मैं उठ सका। उन्होंने आग्रह किया कि मैं उन के साथ चलूँ, लेकिन मुझे अपने साथी की चिन्ता थी, अतः उन्हें उन की सहायता के लिए, और उन से पायी हुई पेपरमिंट की टिकियों के पैकेट के लिए धन्यवाद दे कर मैं अपनी राह चला।

और कहने को कम है—क्योंकि मैं बच आया।

मृत्यु का सामना करने का मेरे लिए यह पहला अवसर नहीं था. न अन्तिम। छः बार अपने को मृत्यु के समर्पित कर के और फिर जी कर मने यही जाना है कि, जब आदमी अपना नहीं रहता, अपने को दे डालता है, तब एक मोह जो वह नहीं छोड़ पाता वह है स्थायित्व का, जारी रहने का—दूसरे शब्दों में अपने नाम का—मोह है। मनोवैज्ञानिक जो मूल प्रेरणाओं में से एक इस स्थायित्व चेष्टा को गिनते हैं, वह उचित ही है। बल्कि वही सब से मूल प्रेरणा है, उसी पर मानव का अस्तित्व—प्रकृति का अस्तित्व—कायम है। डर, प्रेम और भूख भी जब छूट जाते हैं, तब भी मानव की अपने आप को कायम रखने की लालसा बनी रहती है। अपनी जाति को बनाये रखना, अपने को बनाये रखने का दूसरा नाम है, इस प्रकार यह स्थायित्व चेष्टा वास्तव में सृजन की चेष्टा है।

एक जीवन में पकड़ पाने के लिए यह एक सत्य बहुत काफ़ी है कि जब सब लालसाएँ झड़ जाती हैं—जब मानव पशुता की भी और फिर मानवता की भी केंचुल उतार फेंकता है, तब उस के भीतर जो बना रहता है, वह वह है जो नित्यता चाहता है, जो नष्ट होते हुए भी नया सृजन करना चाहता है—जो नश्वर हो कर भी ईश्वर है। इससे बढ़ कर भी कोई सत्य मौत की इस घाटी में जाना जा सकता है, यह नहीं दीखता।

———

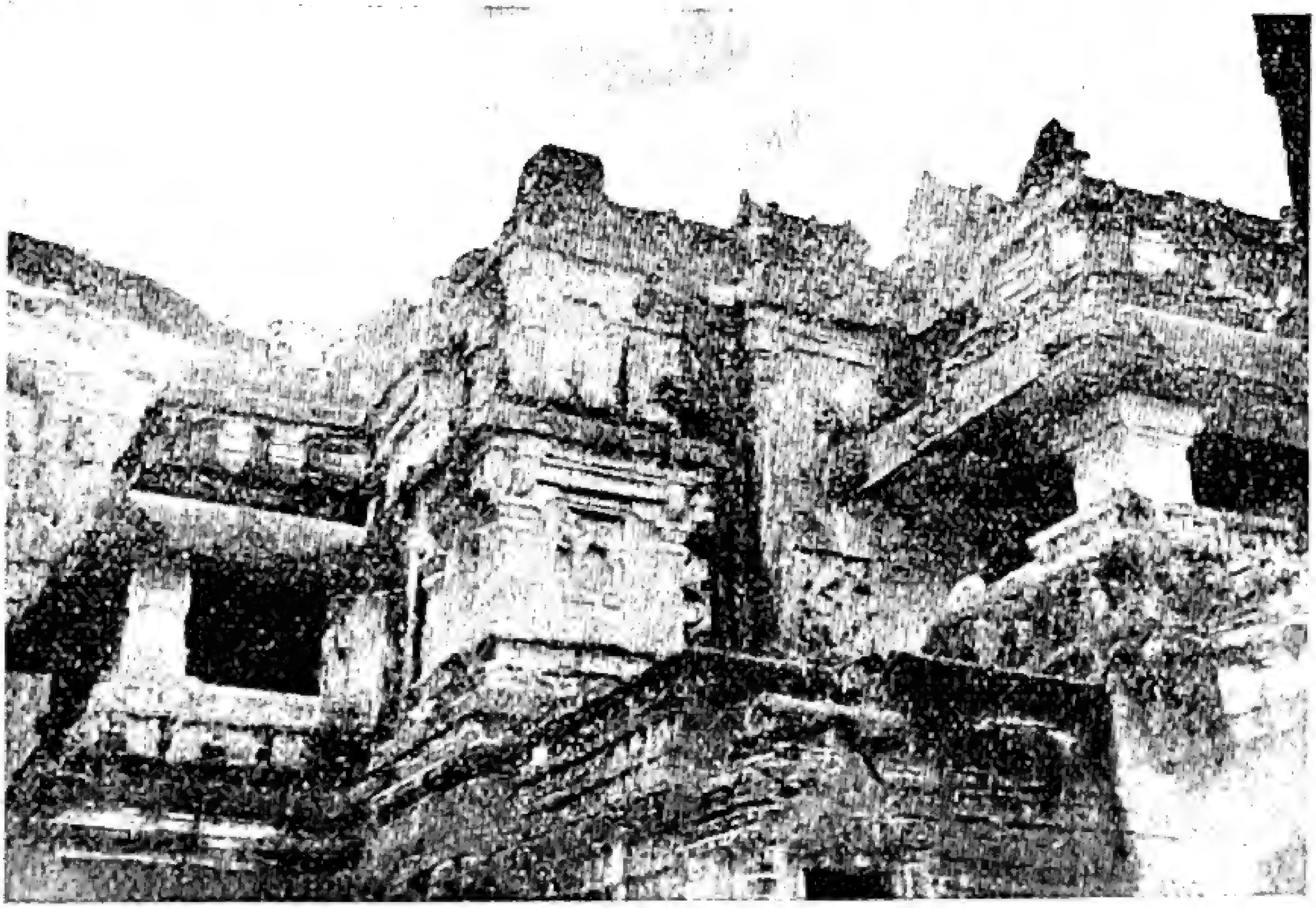
एलुरा

औरंगाबाद से उत्तर-पूर्व, चौदह-पन्द्रह मील दूर, दौलताबाद के दुर्ग के नीचे से हो कर जाती हुई सड़क से, खुल्दाबाद की छोटी-सी बस्ती पड़ती है। एक सफ़ेद मेहराब के नीचे से हो कर सड़क गुज़रती है; दोनों ओर सफ़ेद चूना-पुती इमारतें हैं, जिन की चक-चक सफ़ेदी में से एक बीहड़ सूनापन चीत्कार कर उठता है। यह नयी-नयी सफ़ेदी और इस आवरण के भीतर समाधियाँ—समाधियाँ नहीं, क्योंकि इस नाम से तो शान्ति से भरे हुए व्यक्ति के अन्तिम विश्राम की ध्वनि होती है—केवल क़ब्रें; लड़ते-झगड़ते, धर्म-मद, सत्ता-मद, राज्य-लोलुपता से डँसे हुए, ईर्ष्या और प्रतिहिंसा से सुलगते, धोखे, षड्यन्त्र और दुष्चक्रों से खोखले हो गये मनुष्यों की क़ब्रें! मेहराब के आगे सड़क एक मोड़ लेती है, फिर सहसा एक फाटक पर जा कर समाप्त हो जाती है। फाटक के आगे एक ओर राज्य का डाकबँगला है, दूसरी ओर राज्य की अतिथिशाला, जो रियासती ज़माने में किसी वाइसराय के आने के समय बनायी गयी गयी थी और तब से इतर व्यक्तियों को ठहराने के काम में भी आती है।

औरंगाबाद—जैसा कि नाम से ही प्रकट है—औरंगज़ेब ने बसाया था। खुल्दाबाद भी उसी की कृति है। खुल्दाबाद के अर्थ हैं 'स्वर्ग की बस्ती'। न जाने क्या सोच कर औरंगज़ेब ने उस स्थल को यह नाम दिया होगा, पर इतिहास ने उसे एक नयी व्यंग्य-सार्थकता दे दी है: औरंगज़ेब और उस के सारे परिवार को वहीं मदफ़न मिला—औरंगज़ेब के जरा-जीर्ण और औरों के हिंसा-प्रतिहिंसा-जर्जर शरीरों को वहीं मिट्टी मिली—अपने ही रचे हुए स्वर्ग में सब मिट्टी हो गये।

और खुल्दाबाद उस उच्च समतल भूमि की छत पर बसा है, जिस की पश्चिमी ढाल पर एलुरा की गुफाएँ हैं: दक्षिण से उत्तर खड़ी एक भव्य प्राकृतिक दीवार में, कोई सवा मील के प्रसार में छोटी-बड़ी पंतीस कन्द-राएँ हैं—बौद्ध, ब्राह्मण और जैन; बीचों-बीच में कैलास है जो न केवल

इस समूह की वरन् भारतवर्ष की भास्कर्य-कला की किरीट-मणि है, और कदाचित् संसार में उस प्रकार के शिल्प में अद्वितीय है। वास्तव में गुफा कहने से कैलास के सौन्दर्य की या उस के रचना कौशल की कोई



कैलास

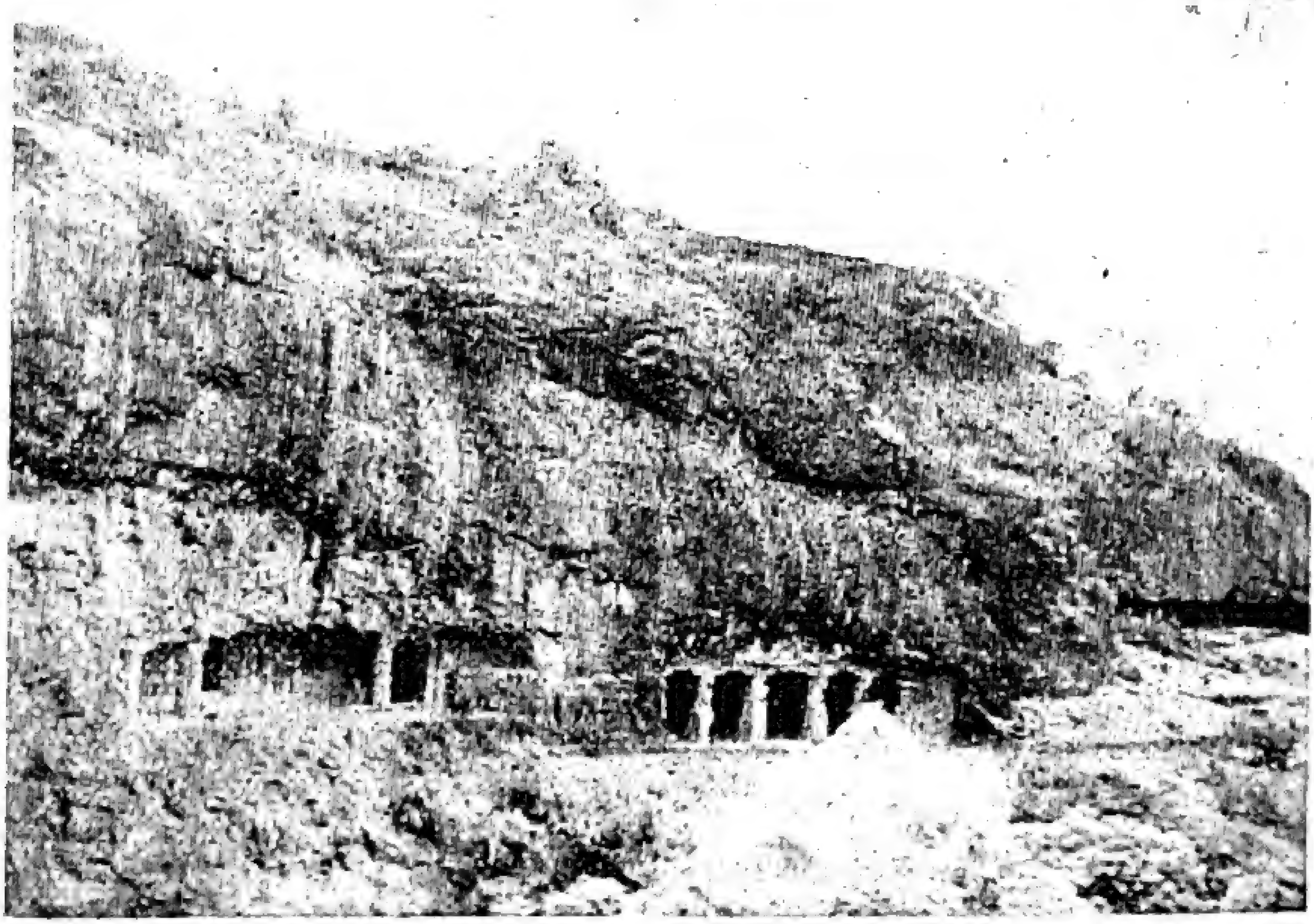
भी कल्पना नहीं हो सकती; वह एक विशाल शिलाखंड को काट कर बनाया गया गुफाओं से घिरा हुआ मन्दिर है। वह यों घिरा न होता, दूर से खुले परिपार्श्व में हम उसे देख सकते, तो उस की मुघर भव्यता का दूसरे प्रकार का चित्र हमारे मन में उभरता। हिन्दू मन्दिर कभी भी खुले परिपार्श्व में नहीं रखे जाते और कदाचित् जन-संकुल ही में से अन्तरिक्ष की ओर उठी हुई मानव की श्रद्धापूर्ण जिज्ञासा को मूर्त्त करना ही हिन्दू भास्कर्य-कला का परम्परानुगत आदर्श रहा है। जीवात्मा की परमात्मा में लीन हो जाने की उत्कंठा ही मुमुक्षा है, मन्दिर और

देवालय उस के मूर्त्त प्रतीक हैं, और उन की प्रतीकमयता तब तक पूरी कैसे हो सकती है जब तक कि वे असंख्यों की एकोन्मुखता को भी सूचित न करें? कैलास भी ऐसा ही प्रतीक है, वह गुफाओं से घिरा है जो उसी पत्थर से कोर कर निकाली गयी हैं जिस से कि कैलास, और उतनी ही ऊँची हैं; पर गुफाओं की एक-एक मंजिल चढ़ कर उन के चिकने अँधेरे में से कैलास का आलोक-मंडित उभार देखते जाइये, उस का ऊर्ध्व इंगित वैसा ही प्रेरणा-भरा है, एक-से-एक सुन्दर असंख्य अलंकृतियों के बीच से भी पुराने कलाकारों की श्रद्धा-विनत साधना कहती है; "यह नहीं, इस से जो सूचित होता है, वह—हम नहीं, हम में जो प्राण फूंकता है, वह!"

जिस पहाड़ी के पार्श्व में गुफाएँ बनी हैं, उस के बाद घाट समाप्त हो जाता है; आगे खुली समतल भूमि है जिस में कहीं-कहीं कोई टीला अवश्य दीख जाता है। गुफाओं के सामने कुछ दूरी पर अहल्याबाई का मन्दिर है, और उस के पास एक ताल जो साँझ के प्रकाश में चमक उठता है।

एलुरा की गुफाएँ तीन श्रेणियों में सहज ही बँट जाती हैं। पहली श्रेणी में बौद्ध गुफाएँ हैं—दक्षिण से आरम्भ कर के पहली बारह गुफाएँ बौद्ध हैं। इन में संख्या २, ३, १०, ११, १२, विशेष उल्लेखनीय हैं। अधिकतर गुफाएँ विहार हैं, पर १०, जो 'विश्वकर्मा' के नाम से प्रसिद्ध है, चैत्य है। कार्ले की चैत्य-गुफा सी विशाल न होने पर भी यह गुफा भव्य है, और उस के भीतर प्रकांड बुद्धमूर्त्ति इसे एक अद्वितीय गौरव प्रदान करती है। मूर्त्ति-शिल्प में शिल्पी केवल मूर्त्ति के अवयवों को नहीं देखता, यह भी ध्यान रखता है कि मूर्त्ति पर पड़ने वाला प्रकाश किस अंग को प्रकाशित करेगा, किसे छाया से धुँधला कर देगा; मूर्त्ति-रचना में पत्थर के साथ-साथ आलोक-छाया का यह उपयोग मूर्त्तिकला का एक सूक्ष्म अंग है। चैत्य-द्वार पर खड़े हो कर बुद्ध-मूर्त्ति पर, स्तूप और स्तम्भों पर पड़ते हुए प्रकाश को देख कर क्रमशः स्पष्ट होता जाता है कि चैत्य

बनाने वालों ने उस का कितना कुशल उपयोग किया है; अन्धकार में से उभर कर सामने आती हुई विशाल बुद्ध-मूर्ति और भी विशाल हो उठती है; जड़ पत्थर एक श्रद्धा-भावना को जगाता है जिस का प्रस्पन्द-विस्पन्द एक प्रहर्ष बन कर दर्शक के रोमकूपों में समा जाता है।



एलुरा की ब्राह्मण गुफाएँ : बाहर से

दूसरी श्रेणी में सत्रह ब्राह्मण गुफाएँ हैं—संख्या १३ से लेकर संख्या २९ तक। इन में विशेष उल्लेखनीय हैं सं० १४ (रावण-खाय), १५ (दशावतार), १६ ('कैलास' अथवा 'रंगमहल'), २१ (रामेश्वर) और २९ (सीता की नहानी)। कैलास का उल्लेख हमने ऊपर किया है। वस्तुतः कोई भी वर्णन उस के विशिष्ट सौन्दर्य का आभास नहीं दे सकता। उस से प्राचीनतर हम जानते हैं, उस से बड़े की कल्पना हो सकती है, उस से

अधिक ओजःपूर्ण, अधिक भव्य, अधिक सुन्दर, सभी कुछ कल्पना में आ सकता है, पर गुणों का ठीक वही अनुपात, ठीक वैसा ही सम्पुंजन, और ठीक उसी परिपार्श्व में स्थापित कला-वस्तु का वैशिष्ट्य—वह और चीज़ है, उसे देख कर ही जाना जा सकता है।



तांडव-शिव

मन्दिर का, उस के शिल्प का, उस की मूर्त्तियों का ब्योरा यहां देना अनावश्यक भी है, असम्भव भी। वर्णन के लिए जेम्स बर्जेस की 'गाइड टु एलूरा केव टेम्पल्स' देखी जा सकती है[1]; और तत्कालीन कलाकार की मूल प्रेरणाओं और आदर्शों को समझने के लिए हैवेल के एकाधिक ग्रन्थों

१. यद्यपि कोरे वर्णन के लिए ही, क्योंकि एक कला-समीक्षक के रूप में बर्जेस की दृष्टि अनेक पूर्वग्रहों से दूषित थी, जिन में ईसाइयत और अंग्रेज़ियत

को सहानुभूति और उत्साह से पूर्ण चर्चा उपयोगी हो सकती है। कैलास के आस-पास की गुफाओं में कोरे गये भित्ति-चित्रों और मूर्त्तियों में भारतीय मूर्तिकला के अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। पूर्वी बरामदे में शिव-पार्वती के विवाह का चित्र विशेष उल्लेखनीय है, उत्तरी बरामदे में शिव-पार्वती के चौसर खेलने का दृश्य भी सुन्दर है। यों इन गुफाओं में, उपर्युक्त दोनों, और रावण का कैलास-धारण, भैरव, तांडव-नृत्य प्रभृति प्रसंग बार-बार चित्रित हुए हैं; मूर्तिकार को सर्वदा एक-सी सफलता नहीं मिली——किसी गुफ़ा में एक दृश्य सुन्दर हुआ है तो अन्यत्र दूसरा। 'कैलास' में पार्वती-विवाह और रावण के कैलास-धारण के दृश्य विशेष उल्लेखनीय हैं, 'दशावतार गुफा' (सं० १५) में नृसिंह अवतार, 'रामेश्वर गुफा' (सं० २१) में ताण्डव-नृत्य, और 'सीता की नहानी' (सं० २९) में भैरव। सीता की नहानी कैलास-सी विराट् नहीं है, पर उस का अपना एक मृदुतर सौन्दर्य है। इस में उपर्युक्त सभी दृश्य अंकित हैं—भैरव का

के पूर्वग्रह उल्लेखनीय हैं। पहले प्रकार के पूर्वग्रह का एक नमूना देखिए—— कैलास का वर्णन करते हुए वह लिखता है :

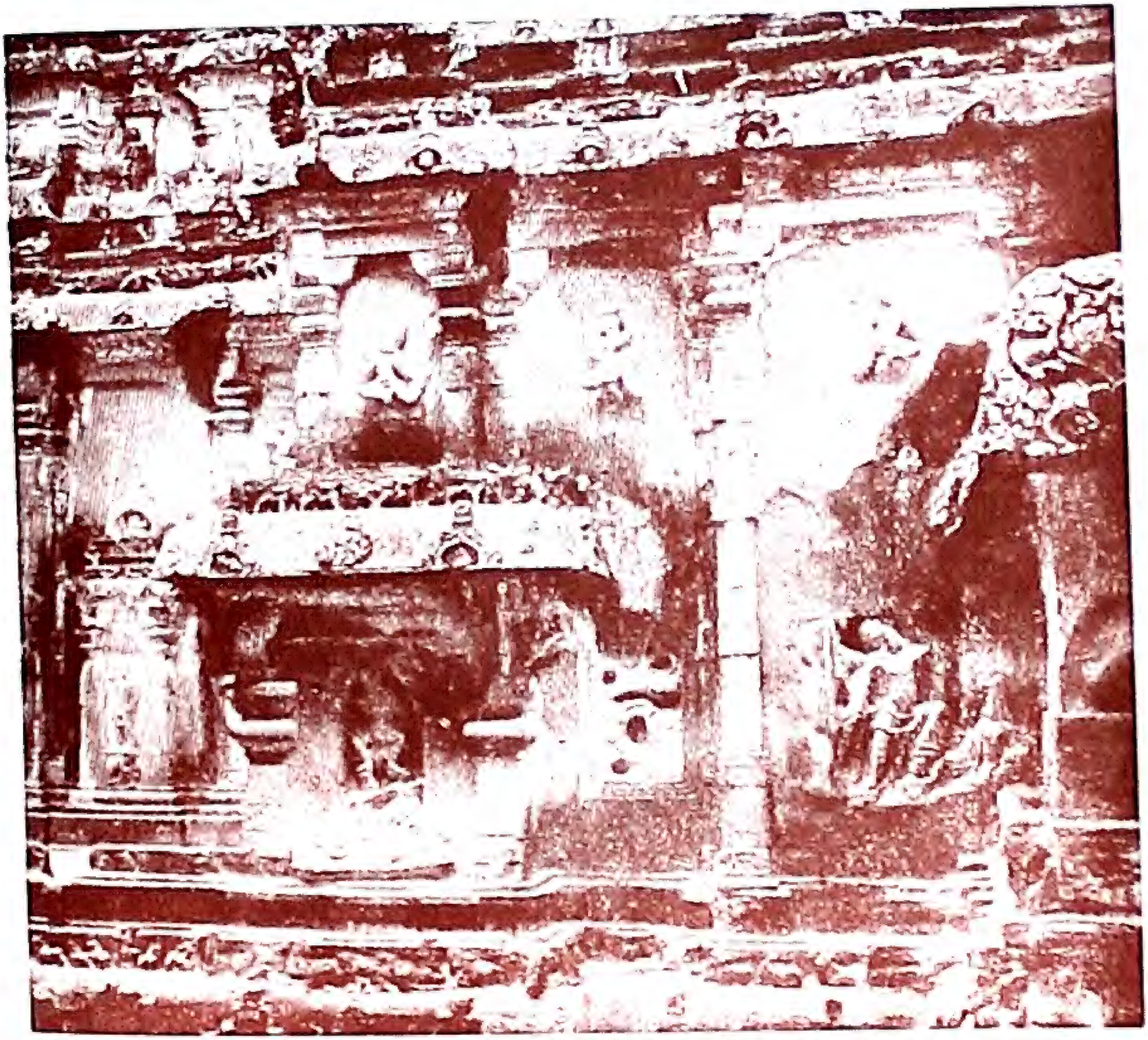
"इस की मूर्त्तियाँ स्मार्त्त मत के प्रचलन को, और उस नैतिक पतन को सूचित करती हैं जिसने दक्षिण में लिंगायत सम्प्रदाय को जन्म दिया और जिस के कारण यह आवश्यक हो गया कि कोई बाहरी प्रभाव आ कर मूर्त्ति-पूजा के नशे में डूबी हुई, और उस से उत्पन्न होने वाले पापाचार से क्षीण हो गयी जाति को उबारे। अपनी सम्पन्न कल्पना के बावजूद हिन्दू कलाकार के स्वभाव की मूल विकृति प्रकट होने से न रही। ईसाई धर्म के आलोक से वंचित अन्य जातियों में भी यही होता रहा। इस्लाम की तलवार ने यदि मूर्त्ति-पूजा बन्द नहीं की तो भी प्रजा को और उसी के शासकों को उत्सवों और मन्दिर-नृत्यों का भ्रष्टाचार और अर्थहीन मन्त्रों का जाप छोड़ दूसरे कामों की ओर प्रवृत्त होने को बाध्य किया। उन के निष्करुण सैनिकों ने यह दिखा दिया कि सच्चे वीर, यद्यपि क्रूर, सैनिकों के सामने ये देवता भी उतने ही असहाय हैं जितने उन के क्लीव उपासक।"





चैत्य गुफा में बुद्ध मूर्ति

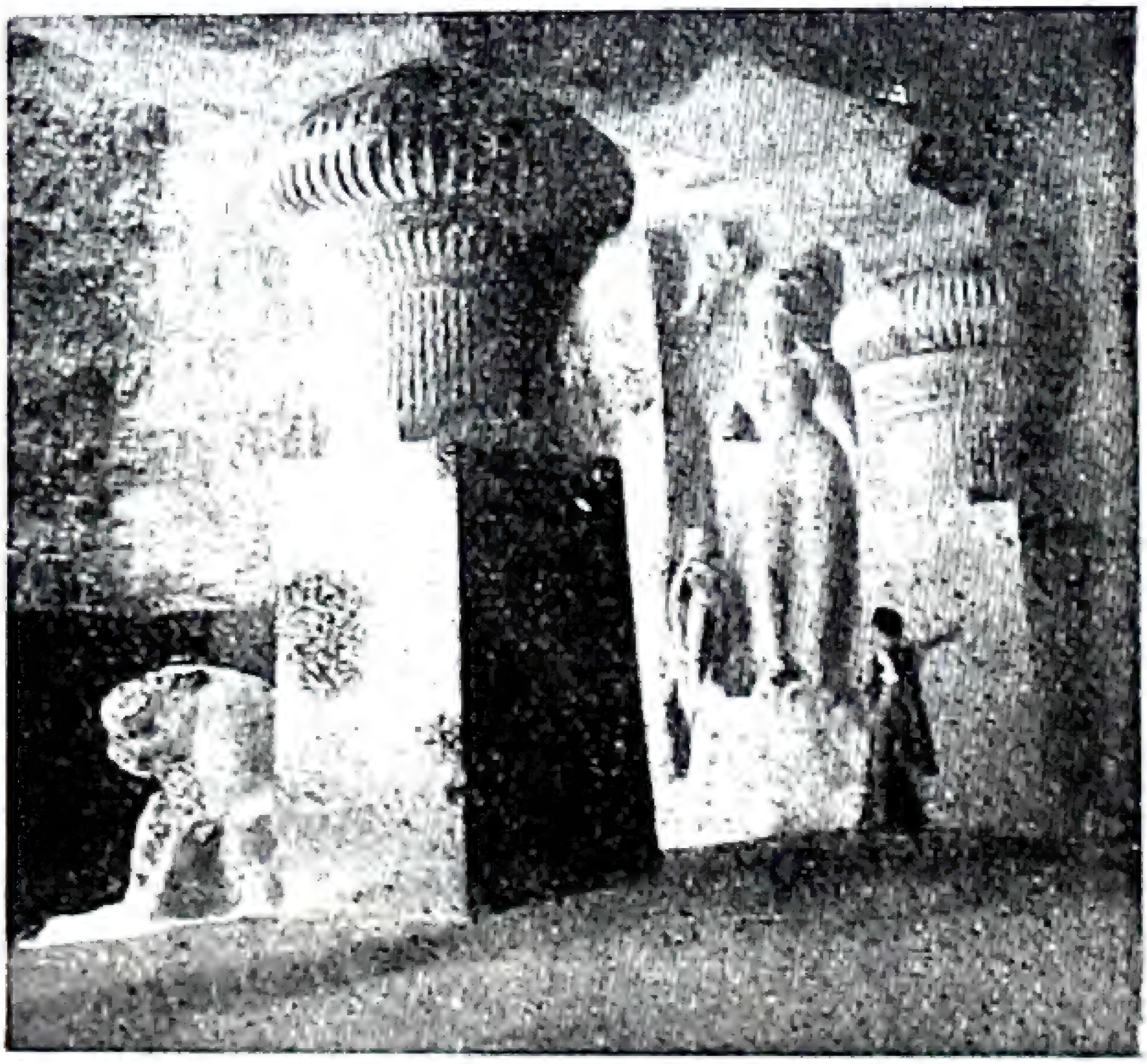
[पृ० १८४-१८५ के बीच



कैलास की एक भित्ति

[पृ० १८४-१८५ के बीच

उल्लेख हुआ हो, उस के सामने रावण का कैलास-धारण है, पूर्व की ओर चौसर वाला दृश्य भी है, पार्वती-विवाह है, उत्तर में योगीश्वर शिव और ताण्डव शिव। गुफा के दक्षिण में सीढ़ियाँ एक ताल की ओर उतरती हैं जो एक जल-प्रपात के नीचे का थाला है, उत्तर की ओर एक खुला आँगन और है, जिस के पूर्व की दीवार पर एक भव्य देवी मूर्ति है—मकर पर



'सीता की नहानी' में नदी देवी

खड़ी और एक परिचारिका तथा गन्धर्वों से घिरी हुई कदाचित् कोई नदी-देवी है। यह आँगन—ऐसा उस की निर्मिति से जान पड़ता है—एक उथला कुण्ड रहा होगा, और पूर्वी भित्ति पर उसे अवलोकती हुई नदी देवी की मूर्ति का होना स्वाभाविक ही है। गुफा से सीढ़ियाँ नीचे उतरती हैं; नीचे दोनों ओर सिंह बैठे हैं। न मालूम इस गुफा का नाम "सीता की नहानी" क्यों पड़ा, लेकिन एक ओर यह छोटा कुण्ड और दूसरी ओर जल-प्रपात-सेवित ताल को जाती हुई सीढ़ियाँ उसे सार्थकता तो देती हैं।

शेष गुफाएँ--संख्या ३१, ३२ और ३३ का गुफा-समूह--जैन हैं। अन्तिम समूह की मुख्य गुफा 'इन्द्र-सभा' कहलाती है; यही उल्लेख्य है। इस में इन्द्र और इन्द्राणी की विशाल मूर्त्तियाँ हैं; इधर-उधर तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ हैं।



'सीता की नहानी' में स्थापित एक देवी मूर्ति

गुफाएँ सब पश्चिम-मुखी दीवार पर बनी होने के कारण, तीसरे पहर से सन्ध्या तक ही उन का अभ्यन्तर ठीक देखा जा सकता है, यद्यपि भीतर के कोष्ठ अलग-अलग दिशाओं में खुलते हैं और कहीं-कहीं जगह

तंग होने के कारण दोपहर की सीधी बरसने वाली किरणों का नीचे से प्रतिवर्तित प्रकाश ही अधिक उपयोगी होता है। सब गुफाएँ देख कर, घाट के पश्चिम मुख को घेर कर लौटती हुई सड़क पर साँझ को चलता हुआ पथिक, धुँधलके में चट्टान की हर आकस्मिक दरार में भी छेनी की सोद्देश्य कोर देखने लगता है, घाट का समूचा पार्श्व अधूरी कोरी हुई, या कोरने के बाद फिर धुँधली पड़ गयी असंख्य आकृतियों से सजीव हो उठता है; ये कल्पना-प्रसूत मूर्तियाँ यात्री को घेर कर उस के मानस पर छा जाती हैं, उस के साथ-साथ चलने लगती हैं, उस से बातें करने लगती हैं...मानों एक अपर लोक की भावनाओं, आशा-आकांक्षाओं से भरा, पुराकाल के कलाकारों की आदर्श-साधना से आविष्ट बटोही, सहसा देश-काल के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। घिरते अँधेरे में जब वह लम्बा चक्कर काट कर फिर खुल्दाबाद की ओर मुड़ता है, तो सड़क पर फाटक की वही मेहराब सामने पा कर मानों चौंक उठता है; वह मेहराब वास्तविक नहीं जान पड़ती, बल्कि किसी पुरानी मेहराब की प्रेत-छाया; और उस के भीतर से गुज़रती हुई सड़क भी, आज की ठोस और सपाट पक्की सड़क न हो कर किसी प्रेत-लोक का मार्ग बन जाती है। एलुरा के कलाकार की भावना से अब भी आविष्ट राही को लगता है, वही सत्य है, और यह पक्की सड़क एक भ्रान्ति, और औरंगज़ेब का खुल्दाबाद एक मिथ्या आभास, एक प्रेत बस्ती, वह मेहराब जिस का फाटक है...

क्या सोच कर तुमने अपने मरण-स्वर्ग के लिए वह स्थल चुना था, औरंगज़ेब! प्राकृतिक सौन्दर्य के कारण? सौन्दर्य वहाँ है, निस्सन्देह; लेकिन तुम्हारे बुज़ुर्ग कश्मीर गये थे; कश्मीर जा कर भी उन्होंने अपनी विलासिता के ही साधन रचे, पर प्राकृतिक सौन्दर्य तो वहाँ था! क्या ज़ेबुन्निसा की अचूक कवि-दृष्टि जो सौंदर्य देख सकी थी, उस के प्रति तुम बिलकुल ही अन्धे थे? या कि विलासिता का विरोध करने के लिए ही तुम बुज़ुर्गों की लीक छोड़ कर दक्षिण गये?

बटोही को लगता है मानो इस अभाषित प्रश्न से आहत, औरंगज़ेब की छाया, प्रेत-स्वर्ग से आगे आ कर मेहराब के सहारे खड़ी हो जाती है, और उत्तर देती है। पूर्वजों की महत्वाकांक्षा औरंगज़ेब में भी थी; आसेतु साम्राज्य की कल्पना के कोड़े उसे भी दौड़ाते रहे थे...औरंगाबाद उस के साम्राज्य-प्रसार की दक्षिणी सीमा थी; साम्राज्य-दुर्ग की दीवारें उसे काँपती हुई दीखीं तो एक नया धुस्स खड़ा करने के लिए ही उसने खुल्दाबाद का निर्माण किया होगा। पर जो भीतरी दुर्बलता से गिरता है, उसे बाहरी सहारे और ठूमने नहीं खड़ा रख सकते; और औरंगज़ेब के आकांक्षा-दुर्ग का धुस्स आज उसी की मिट्टी पर खड़ा है।

बटोही फिर पूछता है, क्या सोच कर तुमने यहाँ अपनी समाधि बनवाने की सोची, सम्राट् औरंगज़ेब? अपनी समाधि पहले से बनवा रखने की बात औरों को भी सूझती रही, ठीक है,—मृत्युपूजक और भी रहे—पर तुमने यह स्थल क्यों चुना? ठीक यही स्थल, एलुरा की गुफाओं की छत का यह समतल, तुम्हारे शासितों का जो उच्चतम आदर्श हो सकता है—कैलास—उस से भी कुछ बालिश्त ऊँचा अपना स्वर्ग बनाने की भावना क्यों तुम्हारे मन में रही? एलुरा की गुफाओं और मूर्तियों पर भी पलस्तर और रंग का लेप होता था; आज वह नहीं होता और भीतर के पत्थर निकल आये हैं: तुम्हारी और तुम्हारे भ्रातृघाती, पितृ-घाती, अपत्यघाती, कुलद्रोही कुनबे की कब्रें आज भी चक-चक लिपी-पुती हैं। लेकिन एलुरा आज भी एक अचरज है बल्कि रंग न होने से उस का मूल सौन्दर्य और उभर आया है, और तुम—तुम्हारी समाधियाँ? क्यों तुम सोच सके कि एक व्यक्ति का दर्प—भले ही शासानुशास का दर्प—एक समूची जाति की श्रद्धाविनत साधना से अधिक समर्थ हो सकता है?

आस्था तुम में भी थी—धर्मात्मा तुम भी थे—शारीरिक परिश्रम से अपना भरण करने की साधना भी तुमने की थी। पर क्या तुम नहीं जानते थे कि साधना का एक अहंकार भी होता है जो साधना को ले डूबता है क्योंकि जहाँ अहंकार का विसर्जन नहीं है वहाँ विनय नहीं है,

और जहाँ विनय नहीं है वहाँ साधना कैसे हो सकती है? ईश्वर के आगे झुकने से ही तुम अपने समकक्ष मानव-प्राणी से अपने को ऊँचा समझने के अधिकारी बनते थे, जो आध्यात्मिक दर्प है—जो अहंकार का सब से विघातक रूप है। ईश्वर की क्षुद्रतम रचना के आगे विनयी होना ही ईश्वर के आगे विनयी होना है। और इसी से, तुम्हारे मृत स्वर्ग के स्तम्भ-रूप इन एलुरा के गुफा-चैत्यों और मन्दिरों के निर्माता, नाम-विहीन कलाकार अमर हैं, और उन की छत पर टिके हुए अपने इन मरण-मण्डपों में बैठे-बैठे पचित, जीर्ण होते हुए तुम—एक प्रेत, केवल प्रेत...

माझुली

नागकेसर के फूल तब पूर्ण विकसित हो चुके थे, पंखुड़ियाँ झरने लगी थीं और केसर की मादक गन्ध छोटी-छोटी पहाड़ियों और उपत्यकाओं को लाँघती हुई शून्य में फैल रही थी। तीसरे पहर बड़े-बड़े शुभ्र बादल उठते थे और बच्चों की तरह नाना प्रकार के जन्तुओं का रूप धरने की क्रीड़ा करते हुए आकाश के प्रांगण के पार निकल जाते थे। मन्दिर-श्रेणी के नीचे बिछे हुए सरोवर का नील विक्षुब्ध हो उठता था और मानों उसे परचाने के लिए किनारे के अशोक-वृक्ष के दो-चार खिले फूल झर कर उस पर आ गिरते थे...

मैंने मधुमक्खियों से बचते हुए अशोक के उन दीप्तवर्ण फूलों का एक गुच्छा तोड़ लिया। तब नहीं जानता था कि क्यों, लेकिन थोड़ी देर बाद अपने पैरों की गति देख कर जाना कि मैं शुभ्रा के घर की ओर जा रहा हूँ।

मैंने फूल शुभ्रा को दे दिये। कहा, "शुभ्रा, मैं विदा माँगने आया हूँ।"

शुभ्रा ने वे फूल अपने जूड़े में खोंसते हुए मेरी ओर देख कर हँस दिया। एक खुली सफ़ेद बादल-सी हँसी !

मैंने फिर कहा, "भोर होते ही मैं यहाँ से चला जाऊँगा।"

उसने पूछा, "फिर कहाँ देखना होगा?"

अब की बार मैंने हँसना आवश्यक पाया—वैसी ही खुली हँसी, क्योंकि खुलापन ही एक अभेद्य आड़ है।

फिर मैंने कहा, "फिर कभी होगा तो, शायद। कब का क्या पता? पर अशोक तो हर साल फूलेगा, कोई ला दिया करेगा। काले के साथ दीप्त रंग सजता है।"

उसने मुँह फेर लिया। अशोक के फूलों से सजा हुआ कबरी-बन्ध मुझे पूरा दीख गया। पर यह मुझे नहीं लगा कि वह इसी लिए उधर मुड़ी थी।

मैं जल्दी से लौट चला।

*   *   *

पच्छिम के देहातों के सूखे भू-भागों में बैलगाड़ी की चूं-चूं अच्छी नहीं लगती। पर असम के बाँसों से घिरे पथ में वही ध्वनि पवन की सरसराहट के साथ मिल कर एक अद्भुत संगीत का रूप लेती है। मानों विस्तीर्ण हरियाला अन्धकार अपने पूरक रक्ताभ आलोक की स्तुति में कोई मन्द्र-गम्भीर छन्द गुनगुना उठे।

तड़के तीन बजे चला था; सात बजे ब्रह्मपुत्र के तट पर पहुँच गया। अपना बोरिया-बिस्तर और दस दिन का राशन नाव में लादा। 'नावरिया' ने बड़े उल्लास के साथ कछार को लात मारी और नाव प्रवाह में डाल दी। यों तो ब्रह्मपुत्र के जिस अपूर्व द्वीप पर मुझे जाना था, उस का उत्तरी छोर तीन मील नीचे ही मिल जाता, पर वहाँ घाट की सुविधा न होती इस लिए और आठ मील नीचे धारा के साथ बह कर घाट पर जा लगने का विचार था।

नाव नदी के बीच में जा कर खड़ी हो गयी। मैंने ध्यान से किनारे की शिस्त ले कर देखा, हम बिलकुल स्थिर खड़े हैं। हवा ज़ोर की थी, मैंने कहा, "नावरिया, पाल खड़ी करो।"

नावरिया केवल ज़ोर से हँस दिया।

असमिया लोग खूब हँसते हैं। बाधाओं पर और भी अधिक हँसते हैं। इस लिए कि वे बाधा को बाधा मानते ही नहीं, वह तो केवल काम न करने की एक युक्ति है, और काम न करना पड़े तो क्यों न हँसा जाय! बात यह थी कि नदी का प्रवाह तो दक्खिन को था, जिधर हमें जाना था; पर हवा का रुख उलटा था। पाल लगाने से तो हम तीव्रता से उलटी दिशा में चलने लगते, बिना पाल के केवल जहाँ के तहाँ थे।

जिस तरह कश्मीरियों की प्रिय उक्ति है "कूछ फ़िकिर नइ", उसी तरह असमियों की जीवनालोचना का निचोड़ जिस एक वाक्य में आ जाता है वह है "बड़ दिकदारी"। मैंने हवा की ओर मुंह उठा कर कहा "बड़ दिकडारी!" असमिया लोग 'द' का प्रायः 'ड' ही उच्चारण करते हैं।

नावरिया ने मान लिया कि मैं उस से पूर्ण सहमत हूँ, और बैठ कर वह तम्बाकू चबाने लगा।

लगभग तीन घंटे बाद, हम लोग जहाँ से चले थे उस स्थान से कुछ और ऊपर ही किनारे आ लगे। मैंने गाँव से फिर बैलगाड़ी मँगवा कर सामान लादा और दूसरी दिशा से उस द्वीप पर आक्रमण करने चल पड़ा।

नानी कहा करती थीं, 'यह लड़का न जाने कैसी घड़ी में जन्मा है। उलटी गंगा बहायेगा।' गंगा तो पुण्यसलिला है, पर ब्रह्मपुत्र ज़रूर उलटा बहाया जा सकता है, आप मान लें।

*　　　　　*　　　　　*

मेरे साथ मेरा अनुचर मनदोज भी था। इस लघुकाय गोरखे में सब से बड़ा गुण यह था कि वह जब जहाँ हो सो सकता था। फिर बैल-गाड़ी में तो हमें नौ घंटे हो चुके थे—रात हो गयी थी...मैंने अपने लिए स्थान सामने की ओर बनाया था, उस के बाद मेरे कपड़ों का और राशन का बक्स था, फिर मनदोज के बैठने का स्थान, फिर पीछे हमारे दोनों बिस्तरे—इस प्रकार गाड़ी का बैलेंस भी ठीक हो गया था और हमें स्थान भी अपनी रुचि के अनुकूल मिल गया था—मुझे सामने का दृश्य देखने का चाव था, और मनदोज को ट्रंकों की दरार में सिर फँसा कर और बिस्तरों पर टाँगें फैला कर सोने का। हम लोग कुछ खा कर एक बजे 'प्रत्यावर्त्तन के पथ पर' चले थे; तब से एक बार आधे घंटे के लिए मेरे जगाने पर मनदोज उठा था—हमने चाय बना कर पी थी। अब रात के ग्यारह बजे थे, मनदोज तो सो ही रहा था—और अब तो सुबह तक जागने का प्रश्न ही क्या ? गाड़ीवान भी कुछ-एक गीत गुनगुना कर ऊब गया था और कुछ-कुछ ऊँघता हुआ बैठा था, बैल यन्त्रवत् चले जा रहे थे।

तारे थे। ऊपर छत के अधगोल और सामने गाड़ीवान के कन्धे के बीच की जगह में से दो-चार तारे दीखते थे, कभी-कभी मोड़-माड़ आने पर एक-आध अधिक दीप्त तारा झलक दे जाता था। मैं भी ऊँघने लगा—ऊँघ का जादुई मरहम मेरे थके अंगों और टूटती हड्डियों को सहलाने लगा।

हठात् चौंक कर जागा। गाड़ी खड़ी थी। गाड़ीवान ने कहा, "हम लोग पहुँच गये।"

मैंने देखा, एक सरोवर के किनारे गाड़ी खड़ी है। अशोक का पेड़ शायद इसके पास भी होगा। पर वह फिर देखा जायगा। मैंने ज़ोर से आवाज़ दी, "मनदोज! ओ मनदोज!"

नींद से भर्राई आवाज़ बोली, "जी साऽब।"

"उठो अब। सामान उतारो। यहाँ बाहर ही बिस्तरे कर लेंगे, सबेरे देखा जायगा।"

सहसा चुप, यद्यपि मैं अनुभव कर सका कि वह सुप्ति की नहीं है, अत्यन्त सजग है।

"क्यों, मनदोज, क्या है ?"

मनदोज ने अविचलित भाव से उत्तर दिया, "साऽब, बिस्तरा तो गीर गया।"

मनदोज के सोते-सोते दोनों बिस्तरे गाड़ी के दचके से कही गिर गये थे, दचकों के कारण सामने हमें पता न लगा और पीछे मनदोज की नींद न टूटी।

मैंने बड़े यत्नपूर्वक जल्दी-जल्दी मन-ही-मन दुहराना शुरू किया, "असम बड़ा सुन्दर देश है। यहाँ के लोग बड़े हँसमुख और मिलनसार हैं। असम बड़ा सुन्दर—" क्योंकि नहीं तो मुँह से जो कुछ निकलता वह पक्के साहबों के साथ रहे हुए मनदोज को अप्रत्याशित भले ही न लगता, मेरे लिए अवश्य पश्चात्ताप का कारण बनता।

फिर मनदोज को कुछ कहने के लिए मैंने कहा, "चाय बनाओ।" गाड़ीवान से कहा, "सामान उतार कर गाड़ी मोड़ो, हम बिस्तर खोजने चलेंगे।"

मनदोज ने तत्परता से कहा, "जी साऽब !" और ट्रंक उतार लिये।

गाड़ीवान ने कुछ कम तत्परता से कहा, "बड़ दिकडारी।"

सौभाग्यवश अधिक दूर नहीं जाना पड़ा। कोई तीन मील दूर पर एक, और आधे मील और आगे दूसरा बिस्तर मिल गया। और जो एक गढ़े

के पास के कीचड़ में गिरा था वह बिस्तर मेरा नहीं, मनदोज का था। जी कुछ ठण्ढा हुआ। तीन घंटे बाद लौट कर देखा, आग जल कर ठण्डी हो चली है, केतली उस पर चढ़ी है, और मनदोज—ट्रंक पर सिर टेके सो रहा है।

*   *   *

सवेरे ही मोटर पकड़ी और अढ़ाई घंटे बाद कोकिलामुख जा पहुँचे। नाम से अनुमान था कि यहाँ कोकिला नदी ब्रह्मपुत्र में पड़ती होगी; पर थे वहाँ केवल तीन-चार झोंपड़े, और नाव की प्रतीक्षा में बैठने वालों के लिए ठेकेदार द्वारा बनाया हुआ एक फूस का छप्पर। कोकिला कुछ मील दूर पड़ती थी; सम्भव है पहले कभी उस का मुख यहीं रहा हो।

हमने बड़ी नाव की प्रतीक्षा न कर एक आठ मन की डोंगी भाड़े ठहरायी और बैठ गये। यहाँ से ठीक सामने द्वीप का मध्य-भाग पड़ता था, सीधे लगभग तीन मील का फ़ासला था; पर बीच में एक और छोटे द्वीप का चक्कर काट कर जाना पड़ता था इस लिए चार मील से कुछ अधिक जाना पड़ेगा। फिर द्वीप के मध्यवर्ती घाट कमलाबाड़ी में पहुँच जायेंगे।

यहाँ पर इस रहस्यमय द्वीप का कुछ परिचय दे देना उचित होगा।

ब्रह्मपुत्र स्रोत से समुद्र तक अपने मार्ग में पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओं में बह लेता है। उत्तर-पूर्वी असम में प्रवेश करते समय उस का पूर्वमुखी प्रवाह ब्रह्मकुंड में आवर्तित हो कर दक्षिण-पश्चिम को बहने लगता है, फिर गंगा (पद्मा) से मिलने पर वह दक्षिण-मुखी हो जाता है। ब्रह्मकुंड के आसपास उस का रूप कुछ वैसा ही है जैसा लछमन-झूला-ऋषिकेश की गंगा का, यद्यपि ब्रह्मपुत्र के गहन-वनाच्छादित महिष-गजेन्द्र-सेवित कछार का सौन्दर्य अपूर्व और अतुलनीय ही है।

तो ब्रह्मपुत्र के समतल मार्ग के बीच में माझुली नाम का एक द्वीप है। नदियों में छोटे-मोटे टापू होना मामूली बात है। लेकिन माझुली अपने ढंग का अनूठा टापू है—संसार की किसी और नदी में ७० मील

लम्बा और १० मील चौड़ा लगभग २५ हज़ार की जनसंख्या वाला द्वीप मैंने तो नहीं सुना! यों वर्षाकाल में जब नदी का पानी चढ़ता है तो द्वीप की लम्बाई बीस-एक मील कम हो जाती है और जगह-जगह पानी भर जाता है, लेकिन तो भी क्या?

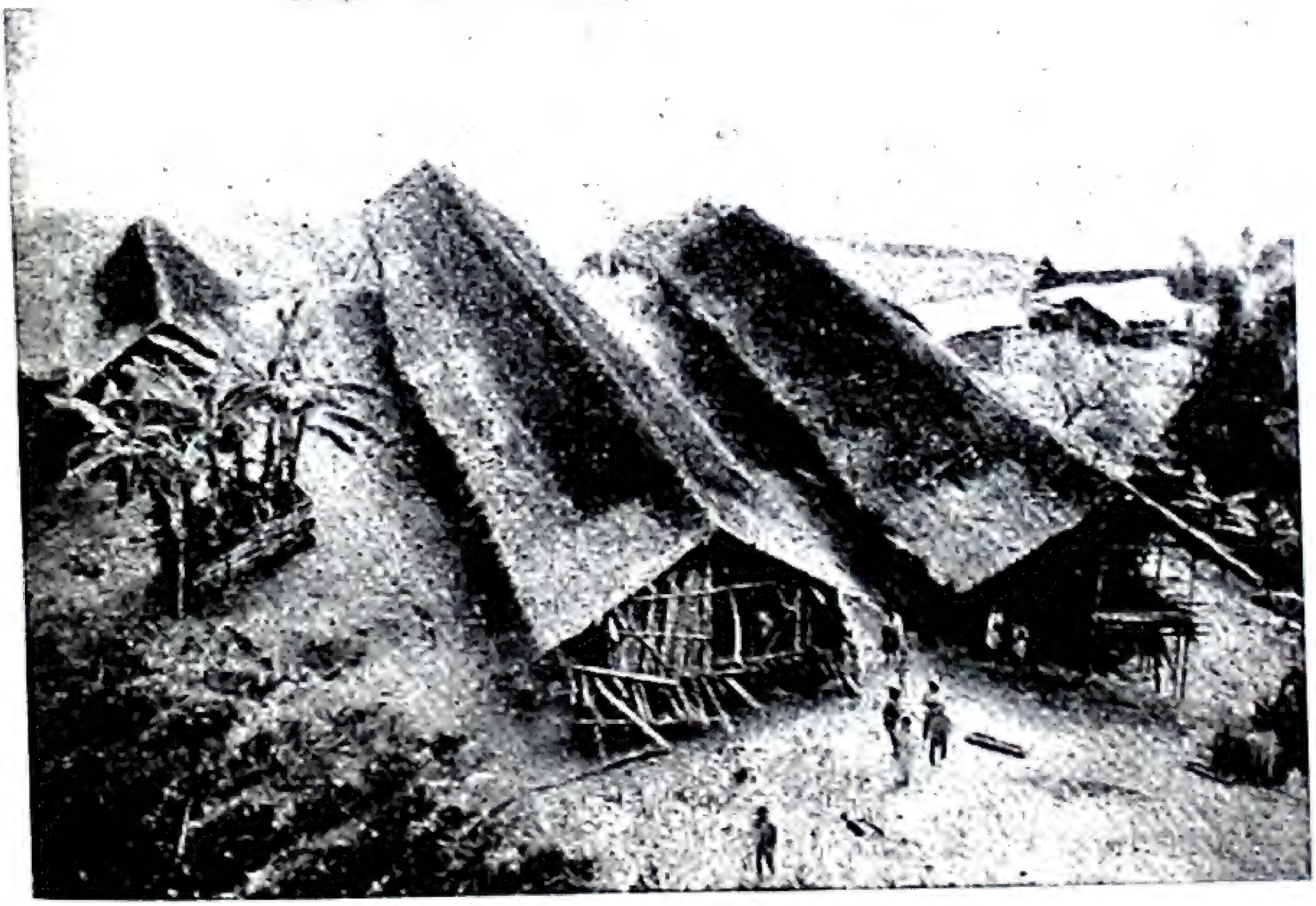
माझुली का यही एक महत्त्व हो सो नहीं! असमिया सांस्कृतिक जीवन में उस का एक गौरवपूर्ण स्थान है। वैष्णव सन्त शंकर देव और उन के शिष्य माधव देव के सम्प्रदाय ने यहीं पर सत्र स्थापित किये, और उन की परम्परा को चलाने वाले वैष्णवों के कई सत्र यहाँ अब भी चल रहे हैं। एकेश्वरवादी निराकारोपासक असमिया वैष्णव असम भर में फैले हुए हैं और उन के धार्मिक जीवन को माझुली के ही सत्राधिकारों से प्रेरणा मिलती है। यों विभिन्न सत्रों की प्रतिष्ठा में न्यूनाधिक का अन्तर होना स्वाभाविक है, पर उत्तर भारत के अनेक मठों और मठाधीशों की तरह ये स्थान व्यसन और विलासिता के शिकार हो कर जन-साधारण की दृष्टि में पतित नहीं हो गये हैं, और सभी सत्र असमिया हिन्दुओं द्वारा आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। अभी इतना परिचय यथेष्ट होगा, कुछ और तो प्रकारान्तर से क्रमशः मिलेगा ही।

*   *   *

दोपहर होते-न-होते कमलाबाड़ी जा पहुंचे। घाट से बढ़ कर मीरी जाति के एक गाँव के पास से हो कर डाक-बंगले पर जा पहुँचा, सामान रख कर मुँह-हाथ धोया। मनदोज से प्रार्थना की कि अब कम-से-कम घंटा भर जागते रह कर कुछ डब्बे का और कुछ ताज़ा मिला कर भोजन दे दे, और उस के 'जी साऽब' की अन्तर्ध्वनि से कुछ आश्वस्त हो कर आराम-कुरसी पर बैठ कर प्रतीक्षा करने लगा।

प्यास थी। यों मनदोज को पीने के लिए पानी उबाल कर रखने की आदत डाल दी थी, पर अभी फ़ौरन तो वह नहीं चलेगा; चौकीदार से पूछा तो उसने बताया कि वहाँ विलायती फ़िल्टर है, साहब लोग उसी-का पानी पीते हैं। मैंने कहा, उस में हाथ-पम्प से ताज़ा पानी डाल दे और

छनने पर गिलास भर दे दे। दो मिनट के अन्दर ही वह गिलास भर पानी ले आया तो मैंने विस्मय से पूछा, "इतनी जल्दी छन भी गया? बासी पड़ा हुआ तो नहीं है?"



एक मीरी गांव
(ये घर कुटुम्बों के नहीं समवाय के हैं)

चौकीदार ने आहत स्वर से कहा, "नहीं साउब, अभी ताज़ा डाल कर लाया हूँ।"

मानवता में मेरी अपार श्रद्धा है। पर असम के पल्टनिया जीवन में सीख लिया था कि पानी के बारे में सहज विश्वासी न हो। मैंने जा कर फ़िल्टर देखा तो उस के ऊपरी अंश में बिलकुल पानी नहीं था, चलनी के

नीचे जल अब भी भरा था। मैंने अविश्वास के साथ कहा, "सारा पानी इतनी देर में छन भी गया ?"

चौकीदार की मुद्रा ने कहा, 'साहबों के साथ अपार धैर्य की ज़रूरत पड़ती है——पर मुझ में है।' वाणी ने कहा, "नहीं, मैंने चलनी उठा कर भर दिया था।"

कारण ? यही कि फ़िल्टर कर के निकालने में बहुत देर लगती है जो कि 'बड़ डिकडारी' की बात है।

मैंने मन मार कर कहा, "भाल।" वह चला गया, तो मैंने छिपा कर पानी नाली में डाला, और दो-एक किताबें निकाल कर बैठ गया कि चाय आने तक प्यास को बहलाये रक्खूँ। पीछे मनदोज से फ़िल्टर का पानी फिकवा कर नया भरवाया——कि रात भर में बिना 'बड़ डिकडारी' के छन जाय !

कुछ एक बकरियाँ डाक-बँगले के हाते में चली आयीं। बिना झिझक के वे बरामदे की ओर बढ़ीं, सीढ़ी चढ़ कर बरामदे में और फिर कमरे में चली आयीं। एक बार मेरी ओर देखा, शालीनता से सिर मोड़ कर मेरी उपस्थिति को क्षमा कर दिया और थूथनी से मेरी पुस्तकें उलटने लगीं. . .

मुझे मानवेतर प्राणियों में ठीक वैसी ही दिलचस्पी है जैसी मानव शिशुओं में——इतर जन्तुओं में शिशु के सभी गुण-अवगुण होते हैं और दोनों का समान पर्यवेक्षण विकासवाद के सिद्धान्तों को सहज-ग्राह्य बनाने के लिए सब से अच्छी पाठशाला है ! कभी-कभी बहुत समय तक निश्चल बैठ कर मैं एक-आध ढीठ गौरेया को इतना आश्वस्त कर सका हूँ कि वह क्षण भर मेरे कन्धे पर बैठ कर फुर्र उड़ जाय; कुत्ते, तोते, मोर, चकोर, कबूतर, तीतर आदि के अलावा गिलहरी, वनबिलार, लँगड़े कौए और चील के बच्चे तक मैंने पाले हैं; और उन का विश्वासभाजन बनने में आनन्द पाया है, पर माझुली में जन्तु और मानव में जैसा साधारण सहज साहचर्य देखा वैसा और नहीं देखा। पहली यात्रा में तो यह बात छोटे-छोटे पशु-पक्षियों को ले कर ही लक्षित हुई——दो-एक बार हाथी अपने-आप डाक-

बंगले में आ कर घुटने टेक और सूंड उठा कर सलाम कर के मेरे हाथों केले के फल और मूंगफली आदि खा गये, पर ये आसपास के सत्रों के सिखाये हुए हाथी थे—किन्तु दूसरी बार माझुली आ कर मैंने देखा कि द्वीप के हिंस्र पशुओं के साथ भी मानों मानव द्वीपवासियों का अलिखित समझौता है...

*   *   *

दूसरी बार जब गया तब बाढ़ के दिन थे। बाढ़ के दिनों द्वीप की लम्बाई प्रायः दो-तिहाई रह जाती है और बीच में भी जहाँ-तहाँ नदी-नाल-दीर्घा और खाल-बील तथा 'मरी नदियाँ' अपनी मर्यादाएँ तोड़ कर बहुत-सा प्रदेश लील लेती है; जिस से द्वीप का क्षेत्रफल शायद आठवाँ भाग हो जाता है...द्वीप में जहाँ-तहाँ धरातल कुछ ऊँचा है वहीं गाँव बसे हैं। किन्तु इतनी ऊँची भूमि बहुत कम है जो बिलकुल सुरक्षित हो; और गाँव के घरों में बहुधा पानी आ जाता है। कुछ सत्र ही इतनी ऊँची जगह पर हैं कि पक्की इमारत बनाना उचित समझा जाय, नहीं तो घर प्रायः बाँस और फूस के 'बासे' हैं—सम्पन्न घर में दीवार पर गारे की पपड़ी जमा कर ऊपर चूने से पुताई कर दी जाती है, बस। इस वर्णन से अनुमान नहीं हो सकता कि असमिया घर कितना स्वच्छ और सुव्यवस्थित होता है, वह देख कर अनुभव करने की चीज़ है।

माझुली में सब से ऊँची जगह वहाँ की एक मात्र सड़क है। उत्तरी असम को जाने के लिए यही मार्ग है, और इसे वर्ष भर चालू रखने के लिए बहुत ऊँची पटरी पर बनाया गया है। सड़क द्वीप के आर-पार बनी है; द्वीप पार कर के ब्रह्मपुत्र की दूसरी धारा सुवर्णश्री अथवा सुवनसिरी फिर पार करनी पड़ती है।

बाढ़ में, जब गाँवों में पानी भर जाता है, तब नीचे प्रदेश तो डूब ही जाते हैं। तब द्वीप भर के साँप ऊँची ज़मीन पर, या पेड़ों पर चढ़ जाते हैं; वन्य पशु, जिन में बाघ की पर्याप्त संख्या भी है, दलदल और हाथी-घास के प्रदेश से सिमटते हुए क्रमशः सड़क की पटरी की ओर बढ़ आते हैं और अन्त में सड़क पर ही आ जमते हैं।

दूसरी ओर गाँवों में जलप्लावन द्वारा खदेड़े जा कर ग्रामवासी भी ऊँची ज़मीनों पर आश्रय लेते हैं। प्रत्येक गाँव में अनेक डोंगियाँ तो होती



माझुली

हाथीघास की एक सुरंग से लेखक गुज़र रहा है

ही हैं, जो निकटवर्ती खाल या मरी नदी में पड़ी रहती हैं; स्थानान्तर करने में ये काम आती हैं। हर गाँव के अपने-अपने मचान भी बने होते हैं, जिन की देख-रेख और मरम्मत गाँव भर की ज़िम्मेदारी होती है। पानी अधिक बढ़ आने पर ग्रामवासी पेड़ों पर बने हुए इन मचानों का आश्रय लेते हैं, और अपने ढोर-डांगरों को खदेड़ कर सड़क की पटरी पर कर देते हैं; वहीं सूखी पुआल डाल देते हैं।

इस प्रकार बाढ़ के दिनों में वह दस-एक मील की सड़क की पटरी एक विराट् मेले का रूप ले लेती है—भेड़-बकरी, लोमड़ी-स्यार बाघ-बघेल-बिलार, साँप-बिच्छू सब मानों अपनी-अपनी भीटी पर आ जमते हैं, और मचानों पर बैठे मानव-प्राणी धैर्यपूर्वक मेला देखा करते हैं। परदेशी वह दृश्य देख कर थर्रा जायें, किन्तु जिस तरह मौसम में मौसमी बुखार होता ही है और कोई यह नहीं कहता कि महामारी फैल गयी है, उसी तरह माझुली के वासी भी अपने जीवन-क्रम के इस नियत अनिवार्य अंश को स्वीकार कर लेते हैं। दैव पर झल्लाया नहीं जाता, उसे सहने का उपाय किया जाता है। डिकडारी वह है निस्सन्देह, किन्तु ढाँचे में बैठाई हुई, साँचे में ढली हुई, इस लिए वश्य। और फिर पानी उतर जाता है, सब लोग अपने-अपने घर जाते हैं, पशु अपने बाड़ों में, बाघ अपनी माँद में और साँप अपनी बाँबी में, और ढर्रा चलता रहता है। ढर्रे का चलना ही तो सनातन है, और इस सनातन तत्त्व की सहज अनुभूति ही तो 'विश्वमैत्री' और 'जीवदया' का रहस्य...

यह नहीं कि जीवन के अनुक्रम में व्याघात न होता हो। किन्तु, बाघ एक-आध को खा ले, दो-एक को थपड़िया जाय, तो भी क्या? जिस तरह यह लम्बी हाथी-डूबी घास सारी दलदल भूमि पर छा जाती है, उसी तरह विवर्तन का नियम भी...

*　　　*　　　*

इस सब का व्यक्तिगत अनुभव हुआ दूसरी यात्रा में, किन्तु पहली ही यात्रा में जब बकरियाँ मेरी पुस्तकें उलट-पलट कर कुछ हताश हो कर चली

गयी तब चाय पीते-पीते मैं कल्पना में माझुली के जीवन का चित्र देखने लगा, और वह चित्र शब्दों के सूत्र में गुंथने लगा...

आज भी मेमने आ कर मेरी पुस्तकों को उलटा जायेंगे,
और नीलकंठ किंशुक के ठूंठ पर ऊंघेगा
और सेमल की बुढ़ियें हवा पर तैरती चली जायेंगी।
आज भी धुंधला आर्द्र प्रकाश बिछल जायगा नील स्फटिक खण्डों पर
चिकनी लचकीली ग्रीवाओं और तरंगायित नितम्ब-लहरी के,
आज भी वस्त्र-खण्डों में से कुच-मुकुलों का निर्व्याज सौन्दर्य झांक जायगा
निरायास स्वच्छन्दता की ही ओट ले कर!

आज भी फूस के छप्परों को छितरा जायगी ढोलकों की गमक,
और बांसुरी का भटकता सुर
वेणुकुंज में बसी अपनी चिरन्तन जननी को उत्कंठा से पुकारेगा!

और असाढ़ में नदी भरेगी, और दस्यु लहरें
लूट ले जायेंगी कगारों की रेती, तोड़ लेंगी करारे,
और फेन की ध्वजा फहराती हुई सदर्प बढ़ती चली जायेंगी
अन्तहीन सागर की ओर!
एक बार फिर: रातें अंधियारी हो जायेंगी और दिन उदास,
पत्तियाँ पीली पड़ जायेंगी और तने जलमग्न होंगे,
बिच्छू और सांप के फूत्कारों में क्रोध बेबस हो उठेगा,
बाघ आठ को मार डालेगा
और पुजारी की बहू को झंझोड़ कर छोड़ जायगा
और कुएं के पास छः भेड़ों की अंतड़ियां सड़ती रहेंगी
और मानवीय खोपड़ी के आयतन पर
गलगण्डों का विस्तार विद्रूप हँसी हँसेगा!

एक बार फिर
लड़खड़ाते तरु-शिखरों से युग-दर्शी आँखें
मटमैले प्लावन को हेरेंगी—
काल की भेदक व्यथा ही काल को पारदर्शी बना देगी
और झलकेगा एक स्वप्न, जिस में
फेन का उफान हट जायगा, और बेत वृक्षों की छड़ी-सी
अँगुलियों से

रेशम के पालनों पर झूलते हुए उतरेंगे
लोमहर्ष कीड़े—
बुदबुदाती दलदल की कीचड़ में खोजते
अंकुर किसी पंकाकुल जीवन के—
जिन्हें शीघ्र भूखे हाथ टोह-टोह खोद लेंगे
उन के सहारे एक बार फिर
मूछित विपन्न प्राणों में, युगजीवन की युगातीत चेतना जगाने को!

काल का प्रवाह एक सूत्र है पाश है, जो बाँधता है, बेबसी में।
ज्ञान एक लीक है जो बहिष्कृत करती है!
मेरी आँखें अनभिज्ञता के झरोखे से
स्पष्ट देख पाती हैं—
युगातीत शान्ति इस चक्रावर्त जीवन-विवर्तन पर।
इतना ही देखता हूँ। आगे यदि देखता,
और यदि जानता, और गहरे पैठता,
तो शायद मेरी दृष्टि भी
बँध जाती, घिर जाती, कट जाती काल के प्रवाह की थकान से।
मैं न तब देख पाता कौतूहली मेमने,
नहीं मुझे बोध होता नील-स्फटिक ग्रीवा का,
ध्यान मेरा टिकता न वक्ष के मुकुल पर!

एक बार और फिर, फिर और एक बार,
और एक बार फिर।
किन्तु आज ढोल की गमक पर
कीर्तन का स्वर टेर रहा है:
चम्पक की शैय्या पर देवी राधा सोयी हैं
आवें कब श्याम? मिटे वेदना विरह की
मिटे प्यास उभयमुखी, दुहरे निलय में
जागे नयी एक अन्तहीनता
क्योंकि जितनी समर्थ अन्तहीन शक्ति श्याम की है—
उतनी ही आदिहीन देवी की भी प्यास है!

*　　　　*　　　　*

आउनियाटी सत्र के सत्राधिकारी ने हाथी भेजा। हाथी छोटा-था—इतना छोटा कि उस की पीठ पर घोड़े की तरह काठी मार कर बैठा जा सके!—किन्तु अत्यन्त फुर्तीला। हम सड़क से उतर कर पगडंडियाँ-नाले-ताल-दीर्घाएँ और खालें पार करते हुए दो घंटे में आउनियाटी पहुँच गये।

आउनियाटी सत्र में आधुनिकता ने प्रश्रय पाया है—सत्र में रेडियो है और नियत समय पर शिष्यमंडली सत्राधिकारी अथवा गोसाईं के बरामदे में एकत्र हो कर समाचार सुनती है। किन्तु आधुनिकता इतनी नहीं बढ़ी है कि मुझ-सा परदेशी एक अत्यन्त कौतूहल की वस्तु न रह जाय! मैं पहुँचा तो दुपहर के रेडियो-प्रोग्राम का समय था, गोसाईं-घर में तीन-सौ शिष्यों की भीड़ के सामने रेडियो के पास चौकी पर गोसाईं बैठे थे।

परिचय में धर्म-कुल-नाम आदि सब पूछा जा चुका, तब अधिकार ने मुझे अपने पास एक और चौकी पर आसन डलवा कर बिठाया। रेडियो बन्द कर दिया गया और बातचीत होने लगी। अधिकार संस्कृत-पढ़े हैं; मेरी संस्कृतमयी हिन्दी वह अच्छी तरह समझते और उन की असमिया मैं समझ सकता था। तीन सौ निस्तब्ध श्रोताओं के सामने एक व्यक्ति से

बातचीत करने का अभ्यास मुझे तो नहीं था, फिर भी बात चल ही निकली, और उसी में से क्रमशः यह प्रस्ताव भी निकला कि मैं शिष्य-मंडली को तत्कालीन विश्व-परिस्थिति पर प्रवचन भी दूं! मैंने सब को प्रश्न पूछने का निमन्त्रण दे कर बात आरम्भ की और लगभग दो घंटे तक बातचीत चलती रही।

सत्र में आतिथ्य की परिपाटी है। एक कमरे में हाथ-मुंह धुला कर चौकी पर बिठाया गया, पत्तल पर सत्र के बने हुए मिट्टी के पात्र में सत्र का बना मीठा दही दिया गया, फिर नारियल के कर्पूरमिश्रित लड्डू—और दूध; और—आधुनिकता के नाम पर!—चाय। दही और चाय में कोई स्वाभाविक मेल तो नहीं जानता, पर सत्र में स्वयं गोसाईं के हाथ से दही पाना अतिथि के लिए गौरव की बात है, यह मैं शिष्यमंडली के चेहरों पर स्पष्ट लिखा देखा सका। तीसरे पहर जब गोसाईं को प्रणाम कर के हाथी पर सवार हुआ, और उन के आज्ञानुसार चार ब्रह्मचारी सत्र-द्वार तक पहुँचा गये, तब महावत ने कहा भी; "प्रभु (शिष्य-समुदाय सत्राधिकार को प्रभु सम्बोधन करता है) आप से बहुत प्रसन्न हुए हैं।"

मैंने मुस्करा कर पूछा, "कैसे जाना?"

"उन्होंने आज तक इतनी देर किसी बाहरी आदमी से बात नहीं की—कमिश्नर भी आता है तो थोड़ी देर बात कर के भेंट समाप्त कर देते हैं—"

कमिश्नर के साथ तुलना हास्यास्पद लगी। हँसी रोक कर मैंने कहा, "कमिश्नर तो फिरंगी है न, मैं तो अपने देश का आदमी हूँ; और फिर वह अधिकार से आता है, मैं तो मिलने आया था—"

महावत ने सिर हिला कर कहा, "ना, आपोनि बिद्वान मानुह।"

[नहीं, आप विद्वान मानुष (हैं)]

मैंने हँस दिया।

डाक-बंगले पहुँच कर हाथी को केले और महावत को दो रुपये दे कर बैठा ही था कि दो ब्रह्मचारियों ने आ कर कहा, "प्रभु ने आप के लिए प्रसाद भेजा है"—और केले के पत्ते से मुंह-बँधी दो छोटी मटकियाँ

मेज़ पर रख दीं। दूध की रबड़ी कर के जमाया गया यह मीठा दही कई दिन तक रहता है और रक्खा जाता है।

मैंने अभिभूत हो कर ब्रह्मचारियों को धन्यवाद दिया और गोसाईं को पुनः कृतज्ञ प्रणाम कहला भेजा।

* * *

दक्षिणपाट सत्र का हाथी भीमकाय था और प्रौढ़——दक्षिणपाट सत्र भी अधिक प्राचीन है और आधुनिकता की छूत से अधिक सुरक्षित भी; सत्राधिकार संस्कृत के पंडित हैं।

कमलाबाड़ी से यह सत्र लगभग दस मील पड़ता है, अतः सबेरे ही प्रस्थान किया गया। राह में जगह-जगह हाथी-डूबी घास के जंगल पार किये, जिन में हाथी की पीठ पर सवार हम लोगों के केवल सिर घास से ऊपर उठते थे और कन्धे तक शरीर छिप जाता था! पैदल चलने वाले इन जंगलों में घास के भीतर-ही-भीतर सुरंगें बना लेते हैं, सुरंगों की ही चौमुहानियाँ भी होती हैं और उन में भटक जाने पर तनिक भी कठिनाई नहीं होती!

हाथी सधा हुआ था, महावत दक्ष। अंकुश की आवश्यकता नहीं पड़ती थी; महावत के आदेशानुसार हाथी राह के झाड़-झंखाड़ इधर या उधर ठेलता या उखाड़ फेंकता, शाखें तोड़ कर गिरा देता; आज्ञा मिलने पर बीच-बीच में पत्तियाँ खा भी लेता...

घास के दो झुरमुटों के बीच में एक खुली वीरान जगह पार करते हुए हाथी अचानक उछला, और फिर फुंकार मार कर एक ओर बेतहाशा दौड़ा। महावत माथे पर से पीछे खिसक कर मेरे पास आ गया। अंकुश उस के हाथ में था नहीं, कमर में खोंसी हुई एक छोटी बंसरी हाथी के माथे पर मार-मार कर वह उसे वश करने का विफल प्रयत्न करने लगा; पर हाथी किसी तरह नहीं माना, फुंकारता हुआ इधर और उधर दौड़ता रहा, बीच-बीच में मुड़ कर तिरछी नज़र से पीछे को देख लेता और फिर और तेज़ दौड़ने लगता...



दक्षिणपाट के हाथी पर लेखक

मैं टाँगें सामने को फैला कर बैठा हुआ था; महावत ने पीछे हटते समय एक टाँग पकड़ ली थी और उस से क्रमशः और ज़ोर से चिपटता जा रहा था।

मैंने पूछा, "क्या हुआ है हाथी को?"

बोला, "नाग देख कर डर गया है—"

"तुमने देखा था? कहाँ?"

"हाँ, हाथी के पैर के पास ही था—बच ही गया। नाग से हाथी बहुत डरता है—"

"अंकुश नहीं ह?"

"अंकुश तो मैं लाया नहीं—कभी ज़रूरत नहीं पड़ती।" और महावत और भी ज़ोर में मेरी टाँग से चिपट गया।

"यह कब तक ऐसे घबराया रहेगा?"

"अभी ठीक हो जायगा—साहब डरें नहीं—" और मेरी टाँग पर उस की जकड़ और भी कड़ी पड़ गयी।

अब तक सहता गया था। अब 'न डरने' की यह शिक्षा पा कर मैंने कहा, "डर मैं रहा हूँ कि तुम?" और झकझोर कर टाँग छुड़ा ली। महावत दुबका रहा।

लगभग आध घंटे बाद हाथी हाँफता हुआ रुक गया, और फिर हम लोग धीरे-धीरे आगे बढ़े। सत्र-द्वार में प्रविष्ट हो कर साल, ज़ारुल[1] और बाँसों के सघन कुंज पार करते हुए हम लोग गोसाई-घर की ओर बढ़े। मेरे

१ 'ज़ारुल' (legerstroemia) एक वृक्ष होता है जिस को लकड़ी पानी में सड़ती नहीं; असम में डोंगियाँ इसी की लकड़ी से बनती हैं।

सम्बन्ध में शायद आउनियाटी सत्र से पहले से ही पूछताछ कर ली गयी थी। गोसाईंघर से पहले ही मुझे सोन-भँड़ाल (स्वर्ण-भंडार) में ले जा कर आसन दिया गया और सूचित किया गया कि प्रभु का आदेश है, अतिथि धूप में दूर से आये हैं, पहले विश्राम और जलपान कर लें, फिर भेंट होगी।

मैंने कहना चाहा कि नहीं, पहले दर्शन करूँगा, पर प्रभु के आदेश में न-नु-नच नहीं होती, यह उन के काकती[२] से कहलाना आवश्यक न था। काँसे के सुन्दर कामदार पात्रों में दही, चिउड़ा, शक्कर आदि परोसे गये। बात चलाने के लिए मैंने पूछा, 'ये काँसे के पात्र क्या यहीं के बने हैं?' मालूम हुआ कि सभी कुछ सत्र का ही है, वहीं की गायों का दूध, वहीं की ईख का शक्कर, वहीं के कांस्यकारों के बनाये बर्तन; आसन तो वहाँ के थे ही—बुनाई असम की प्रत्येक गृहस्थी में अनिवार्य रूप से होती है और सुन्दर होती है। मैंने कारीगरी की प्रशंसा की। मुँह-हाथ धो कर हम गोसाईं जी के सामने उपस्थित हुए; दाहिनी ओर मेरे लिए चौकी पर आसन पहले से बिछा था और शिष्य-समुदाय भी बैठा था—पचास-एक ब्रह्मचारी।

शिष्टाचार के बाद गोसाईं ने मुख्त्यार की ओर उन्मुख हो कर पूछा कि क्या मैं असमिया समझता हूँ? मैंने सीधे हिन्दी में निवेदन किया कि अधिकार असमिया या संस्कृत में बात करें, मैं समझ लूंगा और मेरी हिन्दी भी शायद वह समझ ही लेंगे। उन्होंने पूछा कि मैंने क्या असमिया पढ़ी है? मैंने कहा, नहीं, लेकिन जितनी सुनी है उस से, और हिन्दी और बँगला के यत्किंचित् ज्ञान के सहारे, समझ लेता हूँ। असमिया हिन्दी से ऐसी दूर नहीं है, उच्चारण में भेद न होते तो आसानी से समझ में आ जाती। पढ़ने में अन्तर कम हो जाता है।

उन्होंने कहा, "तब तो आप पढ़ लेते हैं।"

---

२ काकत—कागज; काकती सचिव और कोषाध्यक्ष दोनों का काम करता है।

मैंने स्वीकार किया कि बंगला लिपि मैं जानता था, इस लिए असमिया पढ़ ही सकता था, और शंकरदेव-माधवदेव के जो कुछ भक्ति के गीत मैंने पढ़ कर देखे वे ब्रजभाषा के काफ़ी निकट मालूम हुए––ये 'बड़गीत' नागरी में छपे हों तो हम सब समझ लें।

उन्होंने प्रसन्न हो कर पूछा, "तो माधवदेव के बड़गीत आपने पढ़े हैं?"

"हाँ।"

फिर असमिया वैष्णव सम्प्रदाय के विषय में बातें होती रहीं। गोसाईं ने कहा, "यहाँ पर जो परदेसी आते हैं उन में ऐसे कम होते हैं जो हमारे देश और संस्कृति में रुचि रखते हों।" और एक क्षीण-सी उदासी उन के चेहरे पर दौड़ गयी।

मैंने कहा, "मैं तो देखने और सीखने ही आया हूँ। यों भी मैं जहाँ जाता हूँ वहाँ के जीवन और परिवृत्त को समझने का यत्न करता हूँ, फिर असम तो सचमुच 'सोनार असम' (सोने का असम–'ओ मोर सोनार असम' कई असमिया जातीय गीतों की टेक है) है; भारत के सुन्दरतम अंचलों में एक—"

उन्होंने कहा, "फिर भी हम लोगों को बहुत दुख नहीं है। यहाँ हम लोग तटस्थ हैं और वैसा ही रहना चाहते हैं। जीवन के प्रवाह में बह जाना ही होता तो हम इस द्वीप पर क्यों आ कर स्थापित होते। युद्ध से घिरे देश में जैसे माझुली एक अछूता द्वीप है, वैसे ही जीवन के संघर्ष में धैर्य भी एक अछूता द्वीप है।"

और भी बातें होती रहीं। फिर मैंने अनुमति ली और उठा। सत्राधिकार ने आशीर्वाद दिया, काकती और मुख़्त्यार साथ पहुँचाने आये। राह में एक ताल में गोसाईं जी का बजरा भी देखा जो बाढ़ के समय काम आता है, और ताल में खिले हुए फूल भी।

द्वार पर पहुँच कर हाथी पर सवार हो रहे थे कि सत्राधिकार का सँदेसा आया। हम रुक गये। सन्देशवाहक ने कहा, "प्रभु ने विशेष आशीर्वाद दिया है, और यह चिह्न भेजा है।"

मैंने देखा, एक बड़े थाल में दो काँसे के सुन्दर पात्र—देख कर पहचाना, इन्हीं में मुझे जलपान दिया गया था।

मैं क्षण भर लज्जा और संकोच से गड़ गया। यह तो फिरंगी अधिकारियों का सभ्य लूट का तरीका रहा कि जो वस्तु हथियाना चाहा उस की विशिष्ट प्रशंसा कर दी; मालिक ने इशारा समझ लिया और वस्तु भेंट कर दी...मैंने कहा, "गोसाईं को मेरी ओर से बहुत-बहुत धन्यवाद दें; किन्तु, यह उपहार मैं नहीं लूँगा। मैंने इन पात्रों की प्रशंसा इस लिए की थी कि लोक-शिल्प में मुझे रुचि है और ये उस के अच्छे नमूने हैं। मैं तो बल्कि काँस्यकारों से भी मिलना चाहता।"

लेकिन यह तो अनहोनी बात है! प्रभु का प्रसाद कोई लौटा दे? काकती ने कहा, "नहीं, प्रभु ने कहा है, हम भेंट से प्रसन्न हो कर ही यह देते हैं, ताकि हमारी स्मृति रहे। आप इसे स्वीकार करें, संकोच करने की बात नहीं है। प्रसाद न लेना असम्भव है।"

*　　　　*　　　　*

गड़ामूर का सत्र सब से उदास लगा; किन्तु उस उदासी में भी जीवन था, यह अनुभव करते देर न लगी।

गड़ामूर के सत्राधिकार और उन के पुत्र दोनों नज़रबन्द हैं, यह मैं जानता था। इसी लिए उस सत्र में जाने को और भी उत्सुक था। धार्मिक दृष्टि से दक्षिणपाट के सत्र का गौरव भले ही ऊँचा हो, साधारण असमिया की दृष्टि में गड़ामूर का एक विशिष्ट स्थान था। राजनैतिक जागृति में यह सत्र सब से आगे रहा और सन् १९४२ में यह सरकार का और स्थानीय अधिकारियों का विशेष रूप से कोप-भाजन बना। पंडित जवाहरलाल नेहरू जब असम गये तो माझुली में गड़ामूर के ही अतिथि हुए थे; और वहाँ के गोसाईं अपनी सज्जनता, उदारता और विद्वत्ता के कारण जनप्रिय थे।

सन् १९४२ के अगस्त-आन्दोलन के बाद ही गोसाईं को और फिर उन के युवा पुत्र को नज़रबन्द कर लिया गया। तब से अधिकारी गड़ामूर के नाम से ही भड़कते थे। यह सत्र में माझुली जाने से पहले जानता था।

अधिक जानना भी चाहता था, और कुछ कहना भी चाहता था; इसी लिए पहले से निश्चय कर रक्खा था कि और चाहे जो देखूं या न देखूं, गड़ामूर अवश्य जाऊँगा। जोरहाट में एक-आध जगह इस बात का उल्लेख करने पर वहाँ के पुलीस सुपरिंटेंडेंट ने कान खड़े कर के पूछा था, "क्या करने ? साथ में बन्दूक-वन्दूक कुछ रखते हो कि नहीं ?" और मेरे हँस कर 'ना' करने पर कन्धे कुछ ऐसे ढंग से उचकाये थे कि 'तुम्हें भाड़ में पड़ना हो तो पड़ो—पीछे यह न कहना कि तुम्हें सावधान नहीं किया गया था !' इस लिए गड़ामूर के विषय में और भी कौतूहल था।

खैर ! कमलाबाड़ी से सड़क-सड़क तीन मील पैदल चल कर अपने नक्शे के अनुसार एक पुल के आगे से बायें हाथ को मुड़ने वाली कच्ची सड़क पकड़ी। रास्ता साफ़-सुथरा था, बीच में घास के पतले लम्बे डोरे पड़ हुए थे। लगभग आधा मील जा कर सड़क कुछ लड़खड़ाने लगी; एक-आध टूटा पुल पड़ा जिस के आर-पार ताल के स्तम्भ डाल कर कामचलाऊ बना लिया गया था; फिर सड़क एक कच्ची पटरी बन गयी। मैंने जान लिया कि हम लोग गड़ामूर सत्र की ज़मींदारी में आ गये।

सामने कुछ आबादी देखी। मैंने राह के एक ओर बच कर निकलते हुए एक व्यक्ति से पूछा, "यही गड़ामूर है ?"

उसने एक बार सिर से पैर तक मुझे देखा। मैं वर्दी पहने था, केवल टोपी इच्छापूर्वक पीछे छोड़ आया था, और पैरों में पेशावरी चप्पल थे ताकि घरों में जाते समय जूता खोलने-पहनने की सुविधा रहे। थोड़ी देर सोचते-से रहने के बाद उसने रुखाई से कहा, "हाँ"।

"गोसाईंघर का रास्ता कौन-सा है ?"

उस की रुखाई और सजग हो गयी। उसने एक बार घूर कर मुझे देखा और चुपचाप आगे चल पड़ा, उत्तर नहीं दिया।

मेरा माथा ठनका। असमिया जो हो, अशिष्ट कभी नहीं होता। यह चुप्पी केवल अशिष्टता नहीं, विरोध है; क्यों ?

आगे बढा। एक दूकान-सी के सामने तीन-चार व्यक्ति खड़े बातें कर

रहे थे। मैंने रुक कर उन से पूछा, "गोसाईं-घर का रास्ता किधर है?"

हठात् सन्नाटा। तीनों-चारों आदमी बिना उत्तर दिये बिखर गये।

विरोध का रूप स्पष्ट होने लगा। मैंने दूकानदार से पूछा। उसने कुछ इधर-उधर कर के कहा, "खोज लो।"

पीछे सुना, वे तीन-चार व्यक्ति कुछ दूर पर आपस में बात कर रहे हैं। एक ने धीरे से कहा, "मुख्तार को खबर करनी चाहिए।" मैंने सुन लिया। मुड़ कर कहा, "हाँ आप लोग मुख्तार को खबर कर दीजिए कि दूर देश से एक बन्धु मिलने आया है।"

वे मेरे असमिया समझ जाने पर चौंके। फिर इधर-उधर चले गये। मैं भी यों ही एक ओर चल पड़ा। सोचा, भटकते हुए गोसाईं-घर के आस-पास भी कहीं पहुँच गया तो पहचानने में मुश्किल न होगी।

थोड़ी देर में एक व्यक्ति मेरे पास आ गया और बोला, "आप कहाँ जाना चाहते हैं?"

मैंने मुड़ कर देखा। कुछ उस व्यक्ति के ढंग से और कुछ इस बात से कि वह स्वयं मुझ से बोला है, अटकल लगा कर मैंने कहा, "आपनि मुख्त्यार?"

उसने चौंक कर कहा, "हाँ।"

मैंने अपना परिचय दिया। उसने भी कुछ बाध्य से हो गये होने का भाव दिखा कर नाम बताया।

मैंने कहा, "मैं गड़ामूर देखने आया था। गोसाईं की प्रशंसा मैंने बहुत सुन रक्खी है—"

उसने तमक कर कहा, "देखिए गड़ामूर गरीब है। यहाँ अब कुछ नहीं बचा। गोसाईं जेल में हैं, आप को मालूम होगा। देखने को क्या है?"

"आप सब लोग। गोसाईं होते तब तो और बात थी, अब तो आप लोगों से मिलना ही जरूरी है। कुछ आप की बात सुनूंगा, कुछ अपनी कहूँगा। दूर उत्तर भारत से आया हूँ, यहाँ के लोगों से भाईचारा रखना चाहता हूँ।"

उसने तनिक पसीज कर, किन्तु फिर भी अविश्वास के साथ, कहा : "हम लोगों से आप बड़े आदमियों का क्या मेल ? आप क्या काम करते हैं ?"

मैंने बताया कि मैं फ़ौज में हूँ, पर जिस विभाग में हूँ उस का मुख्य उद्देश्य है लोक-सम्पर्क स्थापित करना।

"क्यों ? हम से तो सेना का कोई मतलब नहीं निकलेगा—"

"आप से सेना का नहीं, सेना से आप का मतलब सिद्ध होना चाहिए। जिस सेना के पीछे जनता की सदिच्छा नहीं हो वह जीत कर भी हारती है। जीत वह है जिसे आप लोग अपनी जीत मानें।"

उसने तनिक और पसीज कर कहा, "भाल कठा (ठीक बात है)।"

हम लोग धीरे-धीरे एक ओर बढ़े जा रहे थे। मुख्तार ने रुक कर कहा, "यहाँ बैठिये थोड़ा।" दाहिनी ओर उस के घर का आँगन था। हम बेंच पर बैठ गये।

मुख्तार ने एक लड़के को पुकारा और कहा, "खबर कर दो।" किस को क्या खबर, यह नहीं कहा गया; पर लड़का घर की ओर मुड़ कर बाहर चला तो मैंने समझ लिया कि खबर चाय के लिए नहीं पंचायत के लिए की जा रही है। मैंने कहा, "अगर आप लोगों को बुला रहे हैं तो नामघर में ही क्यों न चला जाय ?"

मुख्तार ने मेरी ओर देख कर कहा, "आप हमारे देश की प्रथाओं से परिचित जान पड़ते हैं।" असम में हर गाँव में एक नामघर होता है जहाँ कीर्तन भी होता है और गाँव के सार्वजनिक कामों के लिए सम्मिलनी भी जुटती है।

मैंने कहा, "सीख रहा हूँ।"

* * *

पंचायत में लगभग दो घंटे, विचार-परिवर्तन हुआ। मुख्तार बंगला भी जानते थे, दो एक व्यक्ति मामूली अंगरेज़ी भी। हिन्दी-बंगला-असमिया-अंगरेज़ी में बातचीत होती रही। पहला ही प्रश्न मुझ से पूछा गया कि मेरे पास बन्दूक या पिस्तौल है ? मैंने कहा, 'नहीं।' तो पूछा गया कि अवश्य ही

डाक-बँगले में रक्खी होगी? मैंने फिर इनकार किया और कहा कि मेरा काम तो केवल बन्धु-भाव बढ़ाने का है और मेरे विभाग का उद्देश्य भी ऐसा ही है। एक ने कहा, "लेकिन बन्दूक रखने में बुराई क्या है? आत्म-रक्षा के लिए तो रक्खी जा सकती है?"

"हाँ, कभी ज़रूरत हो सकती है। लेकिन आप लोगों के मध्य में क्यों? यहाँ तो आप सब मेरे रक्षक हैं!"

किसी ने कहा, "भाल कठा।"

और किसी ने कहा, "जो बन्धु-भाव से आया है वह मिलटरी है तो क्या? वह हम से बन्धुत्व ही पायेगा।"

पंचायत सफलतापूर्वक समाप्त हुई।

फिर मुख्तार के यहाँ नारियल के लड्डू और मठरी के साथ चाय-पान कर के, सूना गोसाईं-घर आदि देख कर मैं चलने को उठा। बहुत से लोग ग्राम-सीमा तक छोड़ने आये। दो युवक पहुँचाने चले जो लौटते हुए दोनों साइकलें भी ला सकेंगे—मेरे बहुत मना करने पर भी पैदल लौटने की अनुमति मुझे न मिली।

* * *

चला तो मुझे फिर आने का निमन्त्रण दिया गया। मैंने कहा, "अवश्य आऊँगा। इसी लिए नहीं कि आप लोगों का स्नेह मिला है, इस लिए भी कि आप से जो कुछ सुनने को मिला है उस की पड़ताल करनी होगी—फिर आ कर आप को बताऊँगा कि मैं क्या कर सका हूँ या आप को क्या करना चाहिये।"

इस बात के पीछे इतिहास है, जिस का कुछ स्पष्टीकरण उचित है। पूरी बात न तो प्रासंगिक ही है न प्रकाशनीय ही, क्योंकि अपने काम के सिलसिले में कई बातें जानी-सुनीं जो तब गोप्य थीं और जिन का गोपन अब अनावश्यक भले ही हो, विधि-मर्यादा के प्रतिकूल तो है ही। फिर भी कुछ ब्यौरा दिया ही जा सकता है।

सन १९४२ के अगस्त-आन्दोलन के बाद गड़ामूर अधिकारियों का



असमिया मिकिर जाति का एक नृत्य

कोपभाजन बना, यह तो ऊपर बता चुका हूं। इन अधिकारियों में मुख्य था जोरहाट जिले का तत्कालीन अंगरेज़ डिप्टी कमिश्नर, जिसने गड़ामूर गोसाई के प्रश्न को व्यक्तिगत प्रश्न बना लिया था। गड़ामूर सत्र पर उस की अकृपा ने सत्र के शिष्य-मात्र को सताने के निश्चय का रूप ले लिया था। यह कैसे किया जा रहा है, यह पंचायत में मुझे बताया गया था किन्तु तब मैं विश्वास न कर सका क्योंकि मेरी यह धारणा थी कि अंगरेज़ का दमन सदा वैध होता है—वह नृशंस भी होता है तो उस की नृशंसता कानून की माँग का जामा पहन कर आती है, नंगी कभी नहीं होती। इस के अपवाद व्यक्ति हो सकते हैं; किन्तु साधारणतया यह अंगरेज़ चरित्र की विशेषता है, और अंगरेज़ी शासन की तो है ही। (यह धारणा मेरी अब भी है।) किन्तु, माझुली से लौट कर जोरहाट में मुख्तार ने मुझे जो सरकारी दस्तावेज़ दिखाये, और डिप्टी कमिश्नर से मिलने पर उस का जो रवैया रहा, उस से मैंने समझ लिया कि गड़ामूर वालों की बात ठीक है और उसे यों ही छोड़ देना एक नैतिक पाप होगा...किन्तु उपाय कैसे हो सकता है, यह मुझे आसानी से न सूझता अगर डिप्टी कमिश्नर ही मुझ से चिढ़ कर, 'एक अनुभवहीन पल्टनिये के सिविल शासन में

अनधिकार हस्तक्षेप' की दुहाई दे कर ऊँचे अधिकारियों तक न पहुँचते, और जाँच में युद्ध-विभाग का पूरा समर्थन मुझे न मिलता। इस्तीफ़ा देना नैतिक विरोध है अवश्य, और ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं जहाँ वही ठीक अथवा एकमात्र उपाय होता है, किन्तु यहाँ यह बात नहीं थी, और नहीं तो इस लिए कि उस से स्थिति रत्ती भर न बदलती और गड़ामूर को तो कोई सुविधा न होती।

अस्तु। वस्तुस्थिति यह थी कि गड़ामूर सत्र की अपनी जो राशन की दूकान थी उसे ज़िलाधीश ने इस लिए बन्द कर दिया था कि 'उस का संचालन सन्तोषजनक नहीं है।' किन्तु, उस के बाद सत्रवासियों को राशन की किसी दूकान से सम्बद्ध नहीं किया गया था, न सत्र के लिए ही राशन की स्वीकृति दी गयी थी। (अन्य प्रत्येक सत्र को व्यक्तियों के निजी राशन के अतिरिक्त सत्र के लिए विशेष राशन मिलता था।) आज्ञा में यह अवश्य लिखा था कि 'सत्रनिवासियों को सत्र के बाहर की किसी दूकान से राशन खरीदने की मनाही नहीं है' किन्तु दूकानों को तो मनाही थी ही कि उन से सम्बद्ध व्यक्तियों को छोड़ कर और किसी के हाथ राशन न बेचें; और उन्हें बेचने के लिए माल दिया भी जाता था उसी परिमाण में। एक दूसरी आज्ञा में स्पष्ट लिखा गया था कि 'केवल सत्र का राशन बन्द किया गया है, उस की सीमा से बाहर बसने वाले अथवा उस के अनुशासन से स्वच्छन्द व्यक्ति अमुक-अमुक स्थान से राशन ले सकेंगे।'

धान और मकई तो सत्र अपनी उपजाते थे, चीनी के बिना भी रहा जा सकता था। किन्तु, नमक, और तेल और घासलेट ?

और एक दिन मैं गड़ामूर गया था। मलेरिया और जूड़ी, पेचिश और मियादी बुखार से बहुत से लोग पड़े थे; कोई घर ऐसा न था जिस में एक रोगी न हो। साँझ हो गयी थी, जिस जिस घर में मैं देखने जाता गृहस्वामी या कोई व्यक्ति थोड़ी-सी सूखी पुआल उठा कर मुट्ठा बनाते और सुलगा कर प्रकाश कर देते। उसी प्रकाश में मैं रोगी का चेहरा देख लेता और दो बातें कर लेता, फिर अन्धकार हो जाता और थोड़ी

देर में हम लोग बाहर आ जाते; दूसरे घर में फिर इसी की आवृत्ति होती।

माझुली द्वीप की २२–२४ हज़ार की आबादी (और अधिक नहीं तो १०० वर्ग मील क्षेत्रफल) के लिए केवल एक सरकारी दवाखाना है, जिसे डिस्ट्रिक्ट बोर्ड से दो सौ रुपये वार्षिक सहायता मिलती है। पड़ता फैला कर देखें तो गाँव के प्रत्येक व्यक्ति के स्वास्थ्य पर लगभग पौने दो पाई खर्च होता है—या यों कहें कि मलेरिया से बचने या मुक्त होने के लिए व्यक्ति कुनैन की एक खुराक का एक चौथाई अंश साल में एक बार पा सकता है।

प्रणाम है उस सत्र को और ग्राम को जो न झुका, न झुका, न झुका . . .

* * *

कमलाबाड़ी से कोकिलामुख लौटते तूफ़ान ने घेर लिया; दिन छिपते पहुँचे। पैसेंजर बस भर चुकी थी, (और ऐसे स्थानों में २४ सीट की गाड़ी तब भरती है जब ३२ बैठ चुके हों!) कहने-सुनने पर ड्राइवर ने मुझे और ले लिया और अपने दाहिनी ओर बिठा लिया। मनदोज को सामान के साथ (केवल अपना बिस्तर मैंने साथ रखा लिया!) बैलगाड़ी पर आने को कहा। रात जोरहाट काटी, दूसरे दिन सामान आ जाने पर दो किस्तों में बस द्वारा बोकाखाट; वहाँ से आगे बस नहीं थी, आती-जाती मिलिटरी लारियों में चड्डी लेते हुए रात तक नौगाँव पहुँच गये। यहाँ अपना ट्रक मुझे लेने आने को था; यहीं तीन सप्ताह की डाक और समाचारपत्र मिलने की आशा थी। सब मिले; किन्तु, इस वरदान का आराम से भोग करने बैठूँ, इस से पहले ही यह सब ले कर आये हुए मेरे विभाग के एक अफ़सर ने कहा, 'कुछ और भी सामान और कमांडर की एक चिट्ठी भी तुम्हारे लिए लाया हूँ। तुम्हें अभी केन्द्र नहीं लौटना है, यहीं से दूसरा दौरा आरम्भ है—मणिपुर रोड।"

"क्यों? खैर तो है?" कहते हुए मैंने कर्नल की चिट्ठी खोली। "पूरे समाचार तुम्हें एक (पत्रवाहक कप्तान का पुकारने का नाम) से मालूम होंगे। मणिपुर रोड से ले कर उत्तरी शिवसागर तक का सारा

प्रदेश तुम्हारे ज़िम्मे है। कुछ खाद्य, एक-एक बोतल रम और जिन, एक रिवाल्वर और १५० कारतूस भेज रहा हूँ। और सब चीज़ों का उदारता से, कारतूसों का किफ़ायत से, उपयोग करना। कुछ और मँगाना हो तो एब से कह देना, और ठिकाना बता देना, अगले सप्ताह में एक हवलदार तुम्हारे साथ रहने को भेजूंगा वह लेता जायगा। पीछे मैं भी आ मिलूंगा, सम्पर्क रखना। गुड लक।" पत्र के साथ ही उस से भी संक्षिप्त पट्टा (मूवमेंट आर्डर) था, जिस के अनुसार मुझे मणिपुर रोड और डिगबई तक के प्रदेश में जहाँ-जहाँ चाहूँ जाने और मौखिक आदेशों के अनुसार कार्य करने की क्षमता प्रदान की गयी थी, और स्थानीय कमांडरों को मेरे कार्य में योग देने को कहा गया था।

मैंने एब स्टुअर्ट से कहा, "यह बात!" और अखबार उठाया। सुर्खी चीख रही थी, "भारत का सीमोल्लंघन—जापानियों ने मणिपुर का रास्ता काट दिया—कोहीमा का आसन्न संकट—"

मैंने फिर कहा, "अच्छा, यह बात!" और उन की बात सुनते-सुनते उन के साथ ही नक्शों पर झुक गया।

अगले छः सप्ताह तक माझुली का स्मरण करने की फ़ुरसत न मिली! उस के बाद एक गाँव के स्कूल में एक बच्ची से अचानक केवड़े के फूल का उपहार पा कर मुझे माझुली के यात्रारम्भ की याद आयी, तब नागकेशर और अशोक दोनों ही के फूल लुप्त हो चुके थे, और हर समय छाये रहने वाले बादलों के नीचे उन की घनी हरियाली और काली-काली दीखने लगी थी!

— ———

'बहता पानी निर्मला–'

मुझे बचपन से नक्शे देखने का शौक है। आप समझें कि कुछ भूगोल विज्ञान की तरफ प्रवृत्ति होगी—नहीं, सो बात नहीं; असल बात यह है कि नक्शों के सहारे दूर-दुनिया की सैर का मजा लिया जा सकता है। यों तो वास्तविक जीवन में भी काफ़ी घूमा-भटका हूँ, पर उससे कभी तृप्ति नहीं हुई, हमेशा मन में यही रहा कि कहीं और चलें, कोई और नयी जगह देखें, और इस लालसा ने अभी भी पीछा नहीं छोड़ा है। नक्शों से यह फ़ायदा होता है कि मन के घोड़े पर सवार हो कर कहीं चले जाइये, कोई रोक नहीं, अड़चन नहीं, और जब चाहे लौट आइये, या न भी लौटिए —कोई पूछने वाला नहीं कि हजरत कहाँ रम रहे !

यों तो नक्शों में तरह-तरह के रंगों से कुछ मदद मिलती है यह तै करने कि कहाँ जावें—जिसे हरी-भरी जगह देखनी हो वह नक्शों की हरी-भरी जगहों में घूमे, जिसे पहाड़ी प्रदेश देखने हों वह भूरे या पीले प्रदेशों में चला जाय, और जिसे एक दम अछूते, अपरिचित प्रदेश में जाने का जोखम पसन्द हो वह बिल्कुल सफ़ेद हिस्सों की ओर चल निकले—अनादिकालीन बर्फ़ीले मरु-प्रदेशों में, जंगलों में, समुद्र में, समुद्र द्वीपों में...नक्शों में कहीं लिखा रहता है कि इस प्रदेश की सर्वे नहीं हुई—हिमालय के अनेक भाग ऐसे हैं—या कि 'अगम्य जंगल!'—असमिया सीमा-प्रदेश में ऐसे स्थल हैं; ज़रा कल्पना कीजिए ऐसी जगहों में जा निकलने का आनन्द !

लेकिन इससे अधिक सहायता मिलती है जगहों के नामों से। बचपन में एक नाम पढ़ा था 'अमरकंटक': यह नाम ही इतना पसन्द आया कि मैंने चुपके से एक कम्बल और दो चार कपड़ों का बंडल बना लिया कि अभी चल दूँगा वहाँ के लिए ! वह जाना नहीं हुआ, अभी तक भी अमरकंटक नहीं देखा है और इस प्रकार उसका काँटा अभी तक सालता ही है, पर नक्शे की यात्रा तो कई बार की है, और अमरकंटक के बारे में उतना सब जानता हूँ जो वहाँ जा कर जान पाता। ऐसा ही एक और नाम

था तरंगम्बाडी––यों नक्शों में उसका रूप विकृत होकर त्रांकुबार हो गया है। 'तरंगों वाली बस्ती'––सागर के किनारे के गाँव का यह नाम सुन कर क्या आप के मन में तरंग नहीं उठती कि जा कर देखें? कई नाम ऐसे भी होते हैं जिनका अर्थ समझ में नहीं आता, पर ध्वनि ही मोह लेती है। जसे 'तिरुकुरंगुडि'––नाम सुन कर लगता है, मानों हिरनों का समूह चौकड़ी भरता जा रहा हो। कुछ नाम ऐसे भी होते हैं कि अर्थ जानने पर ही उन का जादू चलता है जैसे लू–हित; ऊपरी ब्रह्मपुत्र के इस नाम को संस्कृत कर के लोहित्य बना लिया गया है जिससे अनुमान होता है कि वह लाल या ताम्र वर्ण की होगी, पर वास्तव में लू-हित का अर्थ है 'तारों की राजकन्या' या ऐसा ही कुछ। ब्रह्मपुत्र का सौन्दर्य जिन्होंने नहीं देखा उन की तो बात ही क्या, जिन्होंने देखा भी है वे भी क्या इस नाम को जान कर 'तारों की राजकन्या' के तरुण लावण्यमय रूप को देखने को ललक न उठेंगे?

"होनहार बिरवान के होत चीकने पात": मैं कुछ होनहार बिरवा तो नहीं था, पर नक्शों के बगदादी कालीन पर बैठ कर हवाई यात्रा करने की इस आदत से यह तो पता लग ही सकता था कि आगे चल कर भी कहीं टिक कर नहीं बैठूंगा। बात भी ऐसी है, लगातार कुछ दिन भी एक जगह रहता हूँ तो कुछ अपनी इच्छा से नहीं, लाचारी से, और उस लाचारी में बहुत से नक्शे जुटा कर फिर अपने लिए कोई हीला निकाल ही लेता हूँ। और आप सच मानिए, जीने की कला सब से पहले एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की कला है––कम से कम आधुनिक काल में, जब मानव-जाति का इतना बड़ा अंश या तो प्रवासी है, या शरणार्थी ही: एक स्थान से दूसरे स्थान, एक पेशे से दूसरे में; एक घर से दूसरे घर, इत्यादि!

यात्रा करने के कई तरीके हैं। एक तो यह कि आप सोच-विचार कर निश्चय कर लें कि कहाँ जाना है, कब जाना है, कहाँ-कहाँ घूमना है,

कितना खर्च होगा : फिर उसी के अनुसार छुट्टी लीजिए, टिकट कटाइये सीट या बर्थ बुक कीजिए, होटल डाक-बँगले को सूचना दे कर रिज़र्व कराइये या भावी आतिथेयों को खबर दीजिए—और तब चल पड़िये। बल्कि तरीका तो यही एक है—क्योंकि यह व्यवस्थित तरीका है। और इस में मज़ा बिलकुल नहीं है यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बहुत से लोग ऐसे यात्रा करते हैं और बड़े उत्साह से भरे वापस आते हैं।

दूसरा तरीका यह है कि आप इरादा तो कीजिए कहीं जाने का, छुट्टी भी लीजिए, इरादा और पूरी योजना भी चाहे घोषित कर दीजिए, पर ऐन मौके पर चल दीजिए कहीं और को। जैसे घोषित कर दीजिए कि आप बड़े दिनों की छुट्टियों में बम्बई जा रहे हैं, लोगों को ईर्ष्या से कहने दीजिए कि अमुक बम्बई का सीज़न देखने जा रहा है, मगर चुपके से पैक कर लीजिए ज़बरदस्त गर्म कपड़े और जा निकलिए बर्फ़ से ढँके श्रीनगर में !

लेकिन अपनी भी कुछ बात कहूँ। मैं दूसरे तरीके का कायल हूँ यह तो आप समझ ही गये होंगे। लेकिन जब निकलता ही हूँ, तब एक तीसरा तरीका ही अख्तियार करता हूँ। जैसे कहा तो सब से यह कि बम्बई जा रहे हैं, मगर जब स्टेशन गये तो यह तै कर के कि नैनीताल जा रहे हैं और वहाँ से हिमालय के भीतरी प्रदेशों में, और इस तरह जा निकले—शिलङ !

शिवसागर से आगे सोनारी के पास डि-खू नदी की बाढ़ में कैसे फँस गया था, इस का यही रहस्य है।

अंग्रेज़ी में कहावत है कि 'एक कील की वजह से राज्य खो जाता है' —वह यों कि कील की वजह से नाल, नाल की वजह से घोड़ा, घोड़े के कारण लड़ाई, और लड़ाई के कारण राज्य से हाथ धोना पड़ता है। हमारे पास छिनने को राज्य तो था नहीं, पर एक दाँत माँजने के ब्रुश और मोटर की एक मामूली-सी ढिबरी के लिए हम कैसी मुसीबत में पड़े यह हमी जानते हैं !

सोनारी एक छोटा-सा गाँव है—अहोम राजाओं की पुरानी राजधानी

शिवसागर से कोई अठारह मील दूर। वहाँ भी नाम के आकर्षण से चला गया था। यों असम में 'सोना' या 'स्वर्ण' बहुत से नामों में है--सुवनश्री, सोन-भराली, वगैरह--और असम भी 'सोनार असम' सोने का असम कहलाता है! बरसात के दिन थे, रास्ता खराब, एक दिन सवेरे घूमने निकला तो देखा कि नदी बढ़ कर सड़क के बराबर आ गयी है। मैं शिवसागर से तीन-चार मील पर था, सोचा कि एक नया दाँत ब्रुश ले लूँ क्योंकि पुराना घिस चला था; और मोटर की भी एक ढिबरी ठीक करवा कर ही लौटूँ--उस की चूड़ी घिस जाने से थोड़ा-थोड़ा तेल चूता रहता था, वैसे कोई बहुत ज़रूरी काम नहीं था। खैर, इसमें कोई दो घंटे लग गये, खाना खाने में एक घंटा और: तीन घंटे बाद वापस लौटने लगे तो देखा, सड़क पर पानी फैल गया है। पानी गहरा नहीं होगा, यह सोच कर मैं मोटर बढ़ाता चला गया। आगे देखा, सब ओर पानी ही पानी है, सड़क का कहीं पता नहीं लगता, सिर्फ़ पेड़ों की कतार से अन्दाज़ लग सकता था। पर पानी बड़े ज़ोर से एक तरफ़ से दूसरी तरफ़ बह रहा था, क्योंकि सड़क के एक तरफ़ नदी थी, दूसरी तरफ़ नीची सतह के धान के खेत, जिन की ओर पानी बढ़ रहा था। पानी के धक्के से सड़क कई जगह टूट गयी थी। मैं फिर भी बढ़ता गया, क्योंकि आखिर पीछे भी तो पानी ही था। पर थोड़ी देर बाद पानी कुछ और गहरा हो गया और उसके धक्के से मोटर भी सड़क पर से हट कर किनारे की ओर जाने लगी: आगे कहीं कुछ दीखता नहीं था क्यों कि सड़क की सतह शायद दो-तीन मील आगे तक बहुत नीची ही थी। सड़क के दोनों ओर जो पेड़ थे उन में कइयों पर साँप लटक रहे थे क्योंकि बाढ़ से बचने के लिए वे पहले सड़क पर आते थे और फिर पेड़ों पर चढ़ जाते थे।

मैंने लौटने का ही निश्चय किया। पर सड़क दीखती तो थी नहीं, अन्दाज़ से ही मैं बीच के पक्के हिस्से पर गाड़ी चला रहा था। मोड़ने के लिए उसे पटरी से उतारना पड़ेगा--और इधर-उधर सड़क है भी कि नहीं, इस का क्या भरोसा? मैं और एक जगह देख भी चुका था कि

आँखों के सामने ही कैसे समूचा ट्रक दलदल में धँस कर गायब हो जाता है। इस लिए मोटर को बिना घुमाये उलटे गियर में ही कोई ढाई मील तक लाया, यहाँ सड़क कुछ ऊँची थी, उस पर गाड़ी घुमा कर शिवसागर पहुँचा।

शिवसागर से सोनारी को एक दूसरी सड़क भी जाती थी चाय-बागानों में से हो कर, यह सड़क अच्छी थी पर इसके बीच में एक नदी पड़ती थी जिसे नाव से पार करना होता था। मैंने सोचा कि इसी रास्ते चलें, क्योंकि सामान तो सब सोनारी में था, मैं डाकबँगले से कुछ घंटों के लिए ही तो निकला था! शिवसागर से एक तो मोटर की ढिबरी कसवानी थी, और दूसरे दाँत-ब्रुश और कुछ तेल साबुन लेना था, बस। वह भी लौटने की जल्दी के कारण नहीं लिया था!

इस सड़क से नदी तक तो पहुँच गये––वह भी बड़ी मुश्किल से क्योंकि रास्ते में बड़ी फिसलन थी और गाड़ी बार-बार अटक जाती थी। नदी में नाव पर गाड़ी लाद भी ली, और पार भी चले गये: यहाँ भी नदी में बड़ी बाढ़ आयी थी और बहते हुए टूटे छप्पर बता रहे थे कि नदी किसी गाँव को लीलती हुई आयी है––एक भैंस भी बहती हुई आयी, और पेड़-पौधों की तो गिनती क्या। उस पार नदी का कगारा ऊँचा था; मोटर के लिए उतारा बना हुआ था। लेकिन नाव से किनारे तक जो तख्ते डाले गये थे, वह ठीक नहीं लगे थे, मोटर जब तख्तों पर आयी और नाव एक तरफ़ को झुकी तो तख्ते फिसल गये, नाव दूर हट गयी, मोटर नीचे गिरी, आधी पानी में, आधी किनारे पर: मैं ज़ोर से ब्रेक दबाये बैठा था, पर ऐसे अधिक देर तक तो नहीं चल सकता था। लेकिन मैं तो मोटर के साथ खुद बँधा था, उतर कर समझा नहीं सकता था! खैर, आध घंटा उस स्वर्ग-नसैनी पर बैठे-बैठे, असमिया, हिन्दी और बँगला की खिचड़ी में लोगों को बताता रहा कि क्या करें, तब मोटर ऊपर चढ़ायी जा सकी। थोड़ा आगे ही ऊँची जगह गाँव था, वहाँ मोटर रोक कर चाय की तलाश की, यहीं सोनारी से आये दो साइकिल-सवारों से मालूम हुआ कि वे कन्धे तक पानी में से निकल कर आये हैं––साइकिलें कन्धों पर उठा कर!––और मोटर तो कदापि नहीं जा सकती।

इस तरह इधर भी निराशा थी। पानी अभी बढ़ रहा था, यह गाँव ऊँची जगह था पर यहाँ कैद हो जाना मैं नहीं चाहता था, इसलिए फिर नाव पर मोटर चढ़ा कर उसी रास्ते नदी पार की। सब ने मना किया पर मेरे सिर पर भूत सवार था, और हठ-धर्मी का अपना अनूठा रस होता है !

रात शिवसागर पहुँचे। एक सज्जन ने ठहरने को जगह दी, भोजन-बिस्तर का प्रबन्ध भी हो गया, पर दाँत का ब्रुश तो उधार नहीं लिया जा सकता ! सबेरे-सबेरे चल कर अस्सी मील दूर डिब्रूगढ़ पहुँचे, वहाँ ब्रुश ले कर मुँह-हाथ धो कर सुस्थ हुए, यहीं एक कमीज और पेंट खरीद कर कपड़े बदले, रात के लिए एक कम्बल खरीदा। मन ही मन अपने को कोसा कि न नया दाँत-ब्रुश लेने के लिए सोनारी से निकले होते, न यह मुसीबत होती––क्योंकि इस की ऐसी तात्कालिक ज़रूरत तो थी नहीं, न मोटर की ढिबरी का मामला ही इतना ज़रूरी था। लेकिन उपाय क्या था ?

इस तरह बारह दिन और काटने पड़े, क्योंकि सोनारी के सब रास्ते बन्द थे। लौट कर देखा, सोनारी के डाकबँगले में भी पानी भर गया था, कपड़े सब सील कर सड़ रहे हैं, किताबें तो गल ही गयी थीं। बचा था तो केवल स्नानघर में ऊँचे ताक पर रखा हुआ साबन का डिब्बा, और दाँतों का ब्रुश !

नक्शे में अब भी देखता हूँ। वास्तव में जितनी यात्राएँ स्थूल पैरों से करता हूँ, उस से ज्यादा कल्पना के चरणों से करता हूँ। लोग कहते हैं कि मैंने अपने जीवन का कुछ नहीं बनाया, मगर मैं बहुत प्रसन्न हूँ, और किसी से ईर्ष्या नहीं करता। आप भी अगर इतने ही खुश हों तो ठीक––तो शायद आप पहले से मेरा नुस्खा जानते हैं––नहीं तो मेरी आप को सलाह है, "जनाब, अपना बोरिया-बिस्तर समेटिए और ज़रा चलते-फिरते नज़र आइये।" यह आप का अपमान नहीं है, एक जीवन-दर्शन का निचोड़ है। 'रमता राम' इसी लिए कहते हैं कि जो रमता नहीं, वह राम नहीं। टिकना तो मौत है।